ब्रजभाषा और उसके साहित्य

की

भूमिका

डॉ० कपिलदेवसिंह
एम० ए०, पी-एच० डी०
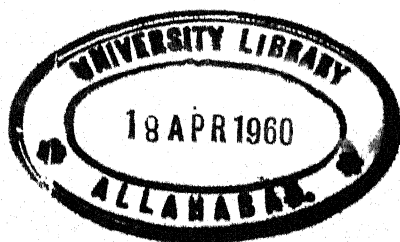
बिनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

ब्रज-भारती

ये अनुराग के रंग रँगी, रसखान खरी रसखान की भाषा।
या में घुरी मिसरी मधुरी, यह गोपिन के अधरान की भाषा॥
को सरि याकी करै कवि 'व्यास' ये भाव भरे अखरान की भाषा।
बोरत भक्ति निचोरत ज्ञान में, गोविंद के गुनगान की भाषा॥

—गोपाल प्रसाद व्यास
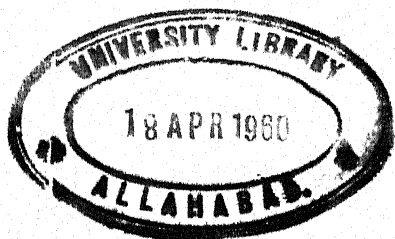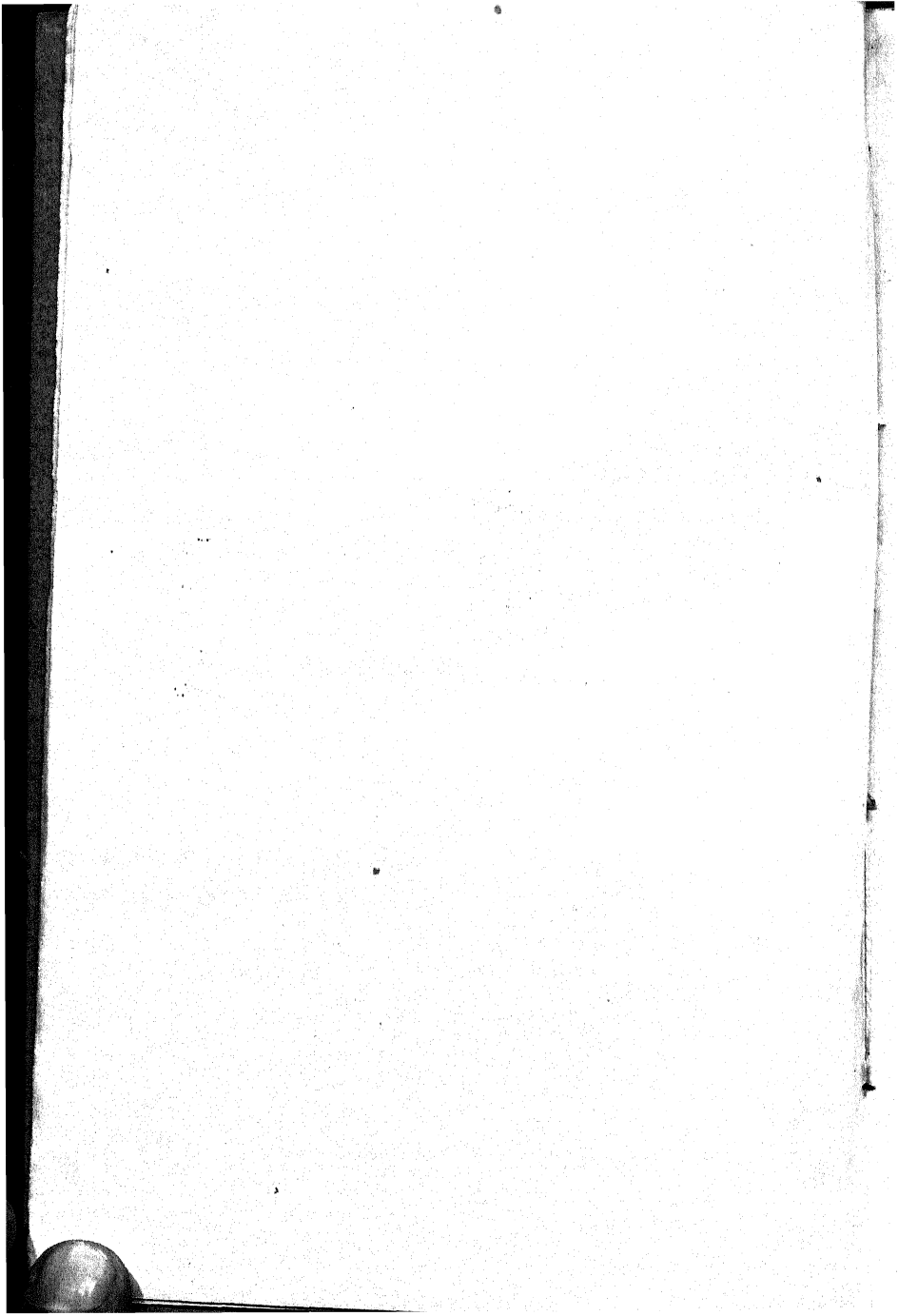
प्रस्तावना

ब्रजभाषा एक समृद्ध भाषा है। इसके दो रूप हैं–(१) विशुद्ध (स्थानीय), और (२) प्रामाणिक। ब्रजभाषा का सुमधुर विशुद्ध रूप ब्रजमंडल के कवियों की रचनाओं तथा उसके लोक-साहित्य में प्राप्त होता है। प्रामाणिक रूप उसका साहित्यिक रूप है। इसका प्रयोग काव्य-भाषा के रूप में ब्रजमंडल के बाहर दूर-दूर तक कवियों ने किया है। 'सूर' (सन् १४६८ ई०) से लेकर 'पद्माकर' (सन् १८३३ ई०) तक, लगभग ३५० वर्ष, यह हिन्दी-साहित्य में काव्य की भाषा रही। १६ वीं शती ब्रजभाषा का संक्रान्ति काल है। इस काल की ब्रजभाषा की रचनाएँ परिवर्तित परिस्थिति में हुई हैं। खड़ीबोली का प्रवेश साहित्य में इसी समय से हो चला था। २० वीं शती के प्रारम्भिक वर्षों से ब्रजभाषा का एकान्तिक प्रभाव हिन्दी-साहित्य से समाप्त हो गया। उसके स्थान पर खड़ीबोली अब हिन्दी-साहित्य की भाषा है। ब्रजभाषा इस समय अपने विशुद्ध रूप में ही जीवित है।

'शिवसिंह-सरोज' के प्रणयन के समय से लेकर आज दिन तक हिन्दी-साहित्य के अनेक इतिहास लिखे गए हैं।[1] इनमें से कुछ तो परिचयात्मक हैं, जिनमें कवियों और उसकी रचनाओं के कालक्रमानुसार केवल विवरण दिए हुए हैं। अन्य आलोचनात्मक हैं, जिनमें कवियों के कालक्रमानुसार परिचय के साथ-साथ उनकी रचनाओं के गुण-दोष का विवेचन भी है।

---

१ **'माडर्न वरनाक्युलर लिटरेचर आव नार्दर्न हिन्दुस्तान' (ग्रियर्सन), 'मिश्रबन्धु विनोद' (मिश्रबंधु), 'कविता कौमुदी' (पं० रामनरेश त्रिपाठी), 'हिंदी-साहित्य का इतिहास' (पं० रामचंद्र शुक्ल) 'हिंदीभाषा और साहित्य' (बाबू श्यामसुंदरदास), 'हिंदी भाषा और साहित्य का विकास' (हरिऔध),**

यद्यपि इतिहास ग्रंथों में कालक्रमानुसार कवियों के वर्णन का महत्व और उसकी उपादेयता अवश्य है, तथापि जब हिन्दी-साहित्य का इतिहास हिन्दी की तीन प्रधान उपभाषाओं—ब्रजभाषा, अवधी और खड़ीबोली—से सन्निबद्ध है तब, यह जानने के लिए कि किसी विशेष भाषा में कितना साहित्य बना और उसमें कौन-कौन से प्रमुख कवि हैं, उनके साहित्य के पृथक्-पृथक् इतिहास भी आवश्यक हैं। ब्रजभाषा-साहित्य के पृथक् इतिहास के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि हिन्दी-साहित्य का मध्यकाल का इतिहास, अपवाद स्वरूप दो-चार कवियों को छोड़कर, उसी का है। इसके अतिरिक्त, समय-समय पर विद्वानों ने ब्रजभाषा के अनेक कवियों की रचनाओं के जो सुसम्पादित संस्करण विस्तृत आलोचनाओं के साथ प्रकाशित किए हैं[१] वे भी ब्रजभाषा-साहित्य के पृथक् इतिहास की कमी को आंशिक रूप में पूरा करते हैं। ऐसा होते हुए भी ब्रजभाषा का साहित्य इतना अधिक है कि उसका पूरा इतिहास अभी नहीं लिखा गया है। अब इसकी विशेष आवश्यकता है। यह इसलिए कि इस भाषा का साहित्य अब हमसे दूर पड़ता जा रहा है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा की खोजपूर्ण पुस्तक 'ब्रजभाषा' इस भाषा के व्याकरण से अधिक सम्बन्धित है। 'रसाल' ने अपनी पुस्तक 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' का प्रणयन बहुत कुछ भाषा का ही आधार मानकर किया है। इसमें ब्रजभाषा के साहित्य पर भी उन्होंने विचार किया है। डॉ० शिवप्रसादसिंह की शोधपूर्ण पुस्तक 'सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य' सूरदास के पूर्व की ब्रजभाषा और उसके साहित्य से परिचय कराने के लिए एक नूतन प्रयास है। विद्वानों का ध्यान अब भाषाओं के पृथक्-पृथक् इतिहास लिखने

'हिंदी साहित्य का इतिहास' (पं० रामशङ्कर शुक्ल 'रसाल'), 'हिंदी-साहित्य' (रामरतन भटनागर), 'हिंदी-साहित्य' (डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी) आदि।

१ 'देव और बिहारी', 'मतिराम' (पं० कृष्णबिहारी मिश्र), 'बिहारी सतसई' (पद्मसिंह शर्मा), 'पद्माकर पञ्चामृत' 'घनआनंद' (विश्वनाथ प्रसाद मिश्र), 'ब्रजमाधुरीसार' (वियोगी हरि) आदि।

की ओर गया है। डा० उदयनारायण तिवारी की गवेषणात्मक पुस्तक 'भोजपुरी की भाषा और साहित्य' इसी प्रकार की पुस्तक है।

प्रस्तुत पुस्तक, 'ब्रजभाषा और उसके साहित्य की भूमिका' ब्रजभाषा साहित्य का सम्पूर्ण इतिहास नहीं है। इसमें न तो उसके कवियों का परिचयात्मक वर्णन है, और न उनकी रचनाओं पर विवेचनात्म निरूपण ही। इसमें ब्रजभाषा की प्रत्येक युग की साहित्यिक भावनाओं की रूपरेखा का निदर्शन, तत्कालीन सांस्कृतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक पीठिका पर रखकर किया गया है। पुस्तक में पाँच अध्याय हैं। पहला अध्याय भाषा-परिचय पर है। दूसरा, उसके निर्माण-काल से सम्बन्धित है। तीसरे और चौथे में, जो कि क्रमशः भक्तिकाल और रीतिकाल में विभक्त हैं, उसके उत्कर्ष की दशा का वर्णन है। पाँचवें अध्याय में उसके साहित्यिक पतन की कहानी है। पुस्तक के अन्त में एक 'अवशिष्ट' जुड़ा हुआ है। इसमें ब्रजभाषा को लेकर भाषा-परिवर्तन के सिद्धान्त पर विचार किया गया है।

मैं उन सभी विद्वानों का, जिनकी सामग्री का उपयोग इस पुस्तक में हुआ हैं, अत्यन्त आभारी हूँ। साथ ही साथ अपने सहयोगी एवं मित्र डॉ०-राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी और श्री श्रीमोहन द्विवेदी के प्रति मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिन्होंने अपने अमूल्य समय देकर मेरी पाण्डुलिपि देखने की कृपा की।

बलवन्त राजपूत कालेज,
आगरा।

कपिलदेवसिंह

विषय-सूची

पृ० सं०

ब्रजभारती ... क

प्रस्तावना ... ग

१. भाषा-परिचय ... १

प्रवेश—ब्रजक्षेत्र—ब्रजभाषा की प्रादेशिक विशेषताएँ—प्रवृत्तिगत साम्य व सादृश्य—रूप-रचना—काव्य-रचना की छूट—प्रधान कारण जिनसे ब्रजभाषा विकृत और विरूप बनी—ब्रजभाषा की विशेषता।

२. ब्रजभाषा का निर्माण-काल

सन् १५०० ई० के पूर्व ... ३४

काल-विभाजन—प्राकृत व अपभ्रंश—हिन्दी का आरम्भ काल—अपभ्रंश-रचनाओं में ब्रजभाषा का विकास-क्रम—अफगानों का शासन-काल और ब्रजभाषा—ब्रजभाषा-गद्य।

३. ब्रजभाषा का उत्कर्ष-काल

सन् १५०० ई० से सन् १८०० ई० ... ५७

[क] भक्ति-काल सन् १५०० ई० से सन् १७०० ई०

श्रीकृष्ण-चरित और ब्रजभाषा—भक्ति-परम्परा—आलवार सन्त—वैष्णव आचार्य—हिन्दू धर्म के भीतर भक्ति भावना क्या विदेशी तत्व है?—वैष्णवधर्म की विशेषता—कृष्णभक्ति और ब्रज—कृष्णभक्ति और

ब्रजभाषा—रामभक्ति और ब्रजभाषा—मुसलमान भक्त-कवि और ब्रजभाषा—मुगलनीति और ब्रजभाषा—कृष्णभक्ति आन्दोलन का प्रभाव—ब्रजभाषा-गद्य।

४. ब्रजभाषा का उत्कर्ष-काल

सन् १५००—सन् १८०० ई० — १०१

[ख] रीतिकाल सन् १७०० ई० सन् १८०० ई०

भक्ति से रीति की ओर—राजनीतिक और सामाजिक स्थित—सांस्कृतिक एवं साहित्यक पृष्ठभूमि—ब्रजभाषा काव्य का वर्ण्य विषय—ब्रजभाषा और नायिका भेद—भाषा और छन्द— विशेष— कवि— गद्य।

५. ब्रजभाषा का ह्रास-काल

सन् १८०० ई० के उपरान्त — १३७

प्रवेश—खड़ीबोली-गद्य का प्रसार—ब्रजभाषा की अवनति के कारण—ब्रजभाषा और खड़ीबोली विवाद—आधुनिककाल में ब्रजभाषा की रचनाएँ—निष्कर्ष।

अवशिष्ट — १५६

अध्याय १

भाषा-परिचय

प्रवेश

भारतवर्ष में भारत-यूरोपीय एवं द्राविड़ कुल की अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं। इनके बोलने वालों की संख्या लगभग ३५ करोड़ है। भारत-यूरोपीय कुल की एक शाखा हिन्दी-भाषा है। 'हिन्दी' भारत की एक प्रधान भाषा है। इसके बोलने वालों की संख्या करीब १५ करोड़ है। इस 'हिंदी' के अन्तर्गत लगभग इक्कासी बोलियों की गणना की जाती है।[१] इनमें मुख्य-मुख्य बोलियों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

(१) पश्चिमी हिन्दी :

क. खड़ीबोली (उदू रूप में भी)

ख. बाँगरू

ग. ब्रजभाषा

1—Census of India, paper No. 1, language, 1951

घ. कन्नौजी

ङ. बुन्देली

(२) पूर्वी हिन्दी :

क. अवधी

ख. बघेली

ग. छत्तीसगढ़ी

(३) बिहारी :

क. भोजपुरी

ख. मैथिली

ग. मगही

(४) राजस्थानी :

क. मालवी

ख. जयपुरी

ग. मारवाड़ी

घ. मेवाती

जिस विस्तृत क्षेत्र में ये बोलियाँ बोली जाती हैं उसकी सीमाएं हैं—पूर्व में भागलपुर (बिहार), पश्चिम में जैसलमेर (राजस्थान), उत्तर में अम्बाला (पंजाब), दक्षिण-पूर्व में रायपुर (मध्यप्रदेश), और दक्षिण-पश्चिम में खंडवा (मध्यप्रदेश) ।

अपनी 'लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया' पुस्तक में डॉ० ग्रियर्सन ने भारतीय आर्यभाषाओं को तीन शाखाओं में विभक्त किया है—(१) बहिरंग (२) मध्य-वर्ती, और (३) अन्तरंग । इनमें उन्होंने बिहारी हिन्दी को बहिरंग शाखा में आसामी, बंगाली और उड़िया के साथ; पूर्वी हिंदी को मध्यवर्ती शाखा में; तथा पश्चिमी हिंदी और राजस्थानी को अन्तरंग शाखा में पंजाबी, गुजराती आदि के के साथ रखा है । डॉ० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गी-करण दूसरे ढंग से पाँच भागों में किया है—(१) उत्तरीवर्ग, (२) पश्चिमी वर्ग, (३) मध्यदेशीय वर्ग, (४) पूर्वी वर्ग, तथा (५) दक्षिणी वर्ग । इन्होंने राज-

स्थानी को पश्चिमी वर्ग में, पश्चिमी हिंदी को मध्यदेशीय वर्ग में, तथा पूर्वी हिंदी और बिहारी को पूर्वी वर्ग में रखा है। इन दोनों प्रकार के वर्गीकरणों में प्रधान अन्तर यह है कि चैटर्जी ने पश्चिमी हिंदी को एक स्वतन्त्र वर्ग मानकर उसको महत्ता दी है, जबकि डॉ० ग्रियर्सन ने पश्चिमी हिंदी को पंजाबी, गुजराती आदि के साथ रखकर उसपर विचार किया है। भाषा-शास्त्री (१) पूर्वी हिंदी—अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी, (२) बिहारी—भोजपुरी, मैथिली, मगही, तथा (३) राजस्थानी—मालवी, जयपुरी, मारवाड़ी और मेवाती को हिन्दी से पृथक भाषाएँ मानते हैं। 'हिन्दी' से वे पश्चिमी हिन्दी को ही विशेष रूप से ग्रहण करते हैं। इस पश्चिमी हिन्दी के अन्तर्गत पाँच बोलियाँ—(१) खड़ीबोली, (२) बाँगरू, (३) ब्रजभाषा, (४) कन्नौजी, तथा (५) बुन्देली सम्मिलित हैं। इस प्रकार ब्रज- भाषा हिन्दी की एक विभाषा है।

ब्रजक्षेत्र

पश्चिमी हिन्दी 'शौरसेनी प्राकृत' की वंशज है। 'शौरसेनी प्राकृत' उस भू-खण्ड की भाषा थी जिसे प्राचीन भारत में 'मध्यदेश'[1] अथवा 'अन्तर्वेद' कहते थे। यह 'अन्तर्वेद' वह पवित्र भूमि है जो 'गंगा' और 'सरस्वती' (पंजाब) के बीच में पड़ता है। यह प्रदेश कई जनपदों में विभक्त था। शूरसेन जनपद इनमें से एक था। इसी शूरसेन जनपद की भाषा 'शौरसेनी प्राकृत' थी, जिससे ब्रजभाषा की उत्पत्ति हुई। अपभ्रंश काल का शूरसेन प्रदेश संस्कृत और प्राकृत काल की अपेक्षा बड़ा था। शौरसेनी अपभ्रंश प्रदेश में पश्चिमी भारत का बहुत बड़ा भाग—राजस्थान, गुजरात, मालवा आदि भी आ मिला था। ब्रजभाषा काल में यह प्रदेश क्रमशः पूर्व की ओर हट आया था; क्योंकि उसी शौरसेनी

---

1. Madhyadesa : The Country bounded by the river Sarsvati in Kurukshetra, Allahabad, the Himalaya, and the Vindhya; the Anterveda was included in Madhyadesa.
—The Geographical Dictionary of Ancient and Mediaeval India, 1927.

अपभ्रंश से निकली हुई ब्रजभाषा का प्रदेश 'ब्रजमण्डल' बन गया था। हाँ, पिंगल की अवस्था तक ब्रजभाषा का व्यवहार राजस्थान तक अवश्य था। इस समय ब्रजभाषा की विलास भूमि ब्रजमण्डल[1] है। ब्रजमण्डल से तात्पर्य वर्तमान मथुरा-वृन्दावन के चतुर्दिक उस क्षेत्र से है जिसका विस्तार चौरासी कोस में माना जाता है—'ब्रज चौरासी कोस में मथुरा-मण्डल धाम'। इस क्षेत्र में श्रीकृष्ण और राधा की लीलाओं से सम्बन्धित अनेक पवित्र स्थल व धाम हैं। इस ब्रजमण्डल की परिक्रमा करते समय तीर्थयात्रियों को वहाँ रससिक्त ब्रजवाणी सुनने को मिलती है। इस ब्रजमण्डल में भी 'ब्रज' वह स्थल है जिसे प्राचीन 'गोकुल' अथवा 'महावन' कहते हैं। गोकुल एक ग्राम है जो मथुरा शहर के निकट यमुना के उस पार है। गोकुल के अतिरिक्त वृन्दावन और उसके आसपास के गाँव भी ब्रज अथवा वृज-क्षेत्र के भीतर समझे जाने लगे। 'ब्रज' या 'बृज' संस्कृत रूप 'व्रज' का तद्भव है। इसी 'ब्रज' या 'बृज' भूमि की बोली 'ब्रजभाषा' के नाम से प्रसिद्ध हुई जो कभी 'भाषा' (भाखा), कभी 'मध्यदेशी', कभी 'अन्तर्वेदी', कभी 'पिंगल', कभी 'ग्वालेरी' आदि नामों से भी अभिहित होती रही। प्रारम्भ में तो वह 'पिंगल' और 'भाखा' नामों से ही अधिक जानी गई। 'ब्रजभाषा' नाम का उल्लेख १८ वीं शती से पूर्व निश्चित रूप से नहीं मिलता। पर, 'ब्रजभाषा' का व्यवहार केवल इस ब्रजमण्डल के भीतर ही नहीं होता। इसका क्षेत्र बड़ा है। इस क्षेत्र की भौगोलिक सीमा के सम्बन्ध में दो प्राचीन दोहे इस भाँति प्रचलित हैं—

(१) "पुर दिल्ली औ' ग्वालियर, बीच ब्रजादिक देस।
पिंगल उप नामक गिरा, तिनकी मधुर बिसेस॥"

---

1. The Braj Mandal almost exactly coincides with the Modern district of Muttra, if we exclude the eastern corner comprising 'Sadabad' and a Portion of Mahaban which were added to the district in the year 1832.

—Linguistic Survey of India Vol. 9 part I, 1916, page 69.

(२) ''इत बरहद उत सोन हद, उत सूरसेन को गाम।
ब्रज चौरासी कोस में, मथुरा मण्डल धाम॥''

'बरहद' अलीगढ़ जिला का एक कसबा है, 'सोन' गुड़गाँव जिला में है। 'सूरसेन' ग्राम से अभिप्राय 'बटेश्वर' से है जो जिला आगरा में है। मोटे रूप में इन दोहों से यही सिद्ध होता है कि ब्रजभाषा का प्रसार दिल्ली के दक्षिण से लेकर इटावा तक, और अलीगढ़ से लेकर धौलपुर और ग्वालियर रियासत तक है। ये प्राचीन भौगोलिक सीमाएँ बहुत-कुछ अब टूट चुकी हैं। ग्रियर्सन साहब ने अपने 'लिंग्विस्टिक सर्वे' में ब्रज-क्षेत्र के विस्तार के सम्बन्ध में लिखा है कि यदि मथुरा को केन्द्र मान लिया जाए तो ब्रजभाषा दक्षिण में जिला आगरा, भरतपुर रियासत के अधिकांश भाग, करौली और धौलपुर रियासत, ग्वालियर रियासत के पश्चिमी भाग और जयपुर रियासत के पूर्वी भाग में; उत्तर में गुड़-गाँव जिला के पूर्व भाग में; उत्तर-पूर्व में दोआब, बुलन्दशहर, अलीगढ़, एटा, मैनपुरी, गंगा के उस पार बदाऊँ, बरेली और नैनीताल की तराई के परगनों में बोली जाती है। इस प्रकार ब्रजक्षेत्र की एक टेढ़ी पट्टी दक्षिण-पश्चिम से लेकर उत्तर-पूर्व की दिशा में फैली हुई है। इस पट्टी की लम्बाई ३०० मील और चौड़ाई ९० मील है। इसका क्षेत्रफल २७ हजार वर्ग मील है। यहाँ लग-भग उन्नासी लाख लोगों द्वारा यह भाषा बोली जाती है।

ब्रजक्षेत्र के सम्बन्ध में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के विचार भिन्न हैं। इन्होंने 'कन्नौजी' को स्वतन्त्र भाषा नहीं माना है। इसीसे इन्होंने उत्तर प्रदेश के पीली-भीत, शाहजहाँपुर, फर्रुखाबाद, हरदोई, इटावा, और कानपुर जिलों को भी ब्रजक्षेत्र में सम्मिलित कर लिया है। इनके हिसाब से यह भाषा ३८ हजार वर्ग-मील में फैली हुई है, और लगभग १ करोड़ २३ लाख लोगों द्वारा बोली जाती है। बाबू श्यामसुन्दरदास तथा श्री सुनीतिकुमार चैटर्जी 'कन्नौजी' को स्वतन्त्र भाषा मानते हैं। ग्रियर्सन ने 'कन्नौजी' और 'ब्रज' में नाममात्र का अन्तर बत-लाया है। 'कन्नौजी' की प्रवृत्ति 'ओकारान्त' की है, जबकि ब्रजभाषा की 'ओकारान्त' और 'औकारान्त' दोनों की है—

कन्नौजी	—	ब्रज	
चलो		चल्यो,	चल्यौ,
		चलो,	चलौ।
गओ		गयो,	गयौ,
		गओ	गऔ।

परन्तु, साहित्यिक 'कन्नौजी' और 'ब्रजभाषा' में विशेष अन्तर नहीं दिखाई देता। कुछ लोग 'कन्नौजी' को 'अवधी' की ओर भी घसीटते हैं। असल बात यह है कि इसमें अच्छे साहित्य का अभाव होने के कारण यह भाषा अशक्त पड़ी हुई है और अन्य पड़ोसी भाषाएं इस पर अपना प्रभाव विशेष रूप से डाल रही हैं।

डॉ० धीरेन्द्र वर्मा के ये भी विचार हैं कि ब्रजक्षेत्र में नैनीताल की तराई का भाग सम्मिलित न किया जाए, और 'बुन्देली' को हिन्दी की एक अलग स्वतन्त्र बोली न मानकर ब्रज की दक्षिणी उपबोली कहा जाए। इसमें सन्देह नहीं कि 'बुन्देली' पर ब्रजभाषा का ही अधिकार पाया जाता है। इन सब बातों को स्पष्ट करने के लिए अभी भाषा सम्बन्धी एक गहरी छान-बीन की आवश्यकता है। वैसे, विशुद्ध ब्रजभाषा का व्यवहार मथुरा, अलीगढ़ और आगरा जिला के पश्चिमी भाग में होता है। शेष ब्रजक्षेत्र पर पार्श्ववर्ती भाषाओं का प्रभाव है। कन्नौजी के प्रभाव से एटा, मैनपुरी और बरेली जिलों में; खड़ीबोली के प्रभाव से बदायूं जिला में; तथा भदौरी (बुन्देली) के प्रभाव से ग्वालियर रियासत के उत्तर-पश्चिम भाग में ब्रजभाषा का भूतकालिक कृदन्त 'चल्यौ' और 'चल्यो' 'चलो' हो जाता है। राजस्थानी के प्रभाव से भरतपुर रियासत, करौली का पश्चिमी भाग और जयपुर रियासत के पूर्वीभाग में; तथा मेवाती के प्रभाव से गुड़गाँव जिला में 'चल्यौ' और 'चल्यो' का रूप केवल 'चल्यो' होता है। ऐसा इसलिए होता है कि ब्रजक्षेत्र के पूर्वी भाग वाली पड़ोसी भाषाओं—कन्नौजी, खड़ीबोली आदि— में बिना 'य' वाले रूप (चलो) के प्रयोग की, और उसके पश्चिमी-दक्षिणी भाग की पड़ोसी भाषा—राजस्थानी में 'य' सहित रूप (चल्यो) के प्रयोग की विशेषता है। इससे एक बात यह और प्रकट होती है कि ब्रजभाषा

अपनी सरहदी भाषाओं में पूर्व की अपेक्षा पश्चिम में बोली जाने वाली भाषाओं के अधिक मेल में आती है। ग्रियर्सन ने इन्हीं 'चल्यौ', 'चलौ', 'चल्यो' और 'चलो' रूपों को आधार मानकर ब्रजभाषा का निम्नवर्गीकरण किया है—

१—विशुद्ध ब्रजभाषा (चल्यौ) का व्यवहार—
मथुरा, अलीगढ़, और आगरा का पश्चिमी भाग।

२—ब्रजभाषा के प्रमाप (Standard) रूप (चल्यो) का व्यवहार—
बुलन्दशहर

३—ब्रजभाषा के प्रमाप रूप (चलौ) का व्यवहार—
आगरा का पूर्वी भाग, धौलपुर, करौली रियासत का मैदानी भाग, और ग्वालियर के करीब का वह भाग जो चम्बल पार में है।

४—कन्नौजी मिश्रित ब्रजरूप (चलो) का व्यवहार—
एटा, मैनपुरी, बदायूं, बरेली।

५—भदौरी (बुन्देली) मिश्रित ब्रज रूप (चलो) का व्यवहार—
ग्वालियर का उत्तर-पश्चिम भाग जिसे सिकरवारी कहते हैं।

६—जयपुरी (राजस्थानी) मिश्रित ब्रजरूप (चल्यो, चल्यौ) का व्यवहार—
भरतपुर रियासत, और जयपुर रियासत का पूर्वी भाग।

७—मेवाती (राजस्थानी) मिश्रित ब्रजरूप (चल्यो) का व्यवहार—
गुड़गाँव।

८—कन्नौजी, खड़ीबोली ब्रज मिश्रित रूप (चलो) का व्यबहार—
नैनीताल की तराई के परगने।

ब्रजभाषा की प्रादेशिक विशेषताएँ

विस्तृत क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा के समान ब्रजभाषा के रूप में प्रादेशिक विशेषताएँ पाई जाती हैं। मथुरा और अलीगढ़ में 'क्यौं' साधारणतया 'च्यौं' या 'चौं' के रूप में बोला जाता है। 'व' के 'म' में परिवर्तित होने के उदाहरण भी अलीगढ़ में मिलते हैं, जैसे बावन—बामन (५२), मनावन—मनामन, रोवति—रोमति आदि। मथुरा में व्यवहृत सर्वनाम 'वा' (उस),

'वा-ने' (उसने), 'वाए' (उसको, उसे) अलीगढ़ और आगरा के कुछ भाग में क्रमश: 'ग्वा' (उस), 'ग्वा-ने' (उसने), 'ग्वा-कूँ' (उसको), और 'ग्वाय' (उसे) बोले जाते हैं। विशुद्ध ब्रज का 'ह्वै' अलीगढ़ में 'है' हो जाता है; जैसे 'ह्वै गयौ' का 'है गयौ'। मथुरा का 'हे' (थे), 'हौ' (था), 'हौं' (हूँ) अलीगढ़ में क्रमशः 'ए' 'ओ' 'ऊँ' हो जाते हैं।

धौलपुर में 'वहाँ' के लिए 'भाँ' प्रयुक्त करते हैं। यहाँ आगरे का 'बेटा' और मथुरा का 'छोरा' 'मोड़ा' बन जाते हैं। 'बहुत' करौली में 'बौत' और 'भोत' के रूप में सुनाई पड़ता है। ग्वालियर (सिकरवारी) में 'मरत' को 'मत्त', 'चरत' को 'चत्त' बोलते हैं। यहाँ मथुरा का 'हे' (थे) और अलीगढ़ का 'ए' (थे) 'हते' (थे) हो जाते हैं। 'वा' (उस) 'वो' (वह) को लोग 'बा' (उस), 'बो' (वह) बोलते हैं।

एटा की ब्रजभाषा में, मथुरा की बोली के अधिक निकट होते हुए भी, कुछ स्थानीय विभिन्नताएँ पाई जाती हैं। 'जावें' को 'जामें', 'पहुँचौ' को 'पौंचौ', 'कहाँ' को 'काँ', 'वहाँ' को 'बाँ', 'ठाकुर साहिब' को 'ठाकुस्सा' बोलते हैं। मैनपुरी में 'वहाँ' को 'हुअन' बोलते हैं। शब्द के मध्य में प्रयुक्त 'र' की 'च्' 'त्' 'द्' 'न्' 'स' में अनुरूपता यहाँ बहुत अधिक देखी जाती है, जैसे 'खर्चु', को 'खच्चु', 'मरतु' को 'मत्तु', 'मरन' को 'मन्न', 'कर दो' को 'कद्दो' आदि बोलते हैं।

बरेली में धौलपुर का 'मोड़ा' 'लौंडा' बन जाता है। एटा का 'गओ' (गया) यहाँ 'गवो' (गया) हो जाता है, और 'वो' (वह) के लिए 'बौ', 'बहु' बोलते हैं।

बुलन्दशहर की ब्रजभाषा में, जिस पर खड़ीबोली का अधिक प्रभाव है, परसर्ग 'कूँ' के स्थान में 'को', 'हमारो' की जगह 'हमारा' तथा 'हो' (था) की जगह 'हा' (था) के व्यवहार होते हैं। इसी प्रकार बदायूँ में 'था' के लिए 'था' और 'हा' दोनों का व्यवहार करते हैं।

मैनपुरी का 'हुअन', एटा का 'वहाँ' और 'बाँ' जयपुर में 'ह्वाँ' हो जाते हैं।

उसको ='ऊँ-सूँ', कहना = 'कइ', कहूँगा = 'कूँगो', भी = 'बी' के रूप में दिखाई देते हैं। इसी प्रकार महल = म्हल, महराज = म्हराज, जन = जण हो जाते हैं।

कारक चिह्नों में 'कौ', 'से', 'सै' के प्रयोग ब्रजक्षेत्र के पूर्वी भाग में तथा 'कौं', 'कूं', 'सूं', 'तै', 'ते' के पश्चिमी और दक्षिणी भाग में अधिक पाए जाते हैं।

प्रवृत्तिगत साम्य व सादृश्य

ब्रजभाषा में इन प्रादेशिक अलगाव एवं विभिन्नताओं के रहते हुए भी उसमें प्रवृत्तिगत साम्य और सादृश्य मौजूद हैं। खड़ीबोली की अधिकाँश पुलिग संज्ञाओं, विशेषणों और क्रिया-रूपों का ब्रजभाषा में 'ओकारान्त', 'औकारान्त' तथा 'उकार-बहुला' होना उसकी सबसे बड़ी विशेषताएँ हैं। उसकी ये प्रवृत्तियाँ उसके क्षेत्र में सर्वत्र देखी जाती हैं; जैसे भूतकालिक कृदन्त 'चल्यौ' 'चल्यो' का व्यवहार समस्त दक्षिण, पश्चिम के जिलों में, तथा 'चलो' का व्यवहार पूर्वी जिलों में होता है। इसी प्रकार उसके सर्वनाम 'मैं' 'तू' 'तुम' और कारक चिह्न 'पै' 'ने' (नैं) बिना किसी रूपान्तर के समस्त ब्रजक्षेत्र में प्रयुक्त होते हैं।

रूप-रचना

किसी भाषा से स्पष्ट परिचय प्राप्त करने के लिए उसके व्याकरण की कुछ मोटी-मोटी बातों का जानना आवश्यक होता है। इसलिए ब्रजभाषा के स्वरूप की जानकारी के लिए उसके व्याकरण के सम्बन्ध में कुछ मुख्य-मुख्य बातों की चर्चा जरूरी है। हिन्दी-भाषा के व्याकरण का मूल स्रोत संस्कृत का व्याकरण होने के कारण हिंदी की जितनी विभाषाएं हैं उनके व्याकरण भी प्राय: एक-से हैं। उनमें जो वर्ण-विन्यास, रूप-रचना, लिंग, वचन, कारक, सर्वनाम, विशेषण क्रिया तथा अव्यय आदि में रूपान्तर दिखाई देते हैं उनका प्रधान कारण किसी विभाषा विशेष की अपनी भाषागत प्रवृत्तियाँ एवं स्थानीय विशेषताएं हैं जिनका व्यवहार अपने ढंग से किया जाता है। ब्रजभाषा की व्याकरण सम्बन्धी कुछ

उन्हीं विशेषताओं को यहाँ दिखलाना है जो उसे हिंदी की प्रधान बोली—खड़ीबोली—के व्याककरण से अलग करती हैं।

वर्ण-विन्यास

(१) वर्ण-विन्यास में बहुधा खड़ीबोली के ड़, ण, य, ल, व, श, क्ष और ऋ के स्थान पर ब्रजभाषा में क्रमशः र, न, ज, र, ब, स, छ (ख) और रि हो जाते हैं; जैसे; पड़ा—पर्‌यो, गुण—गुन, यमुना—जमुना, पीपल—पीपर, विशेष— विशेख, शरण—सरन, क्षत्री—छत्री, क्षीर—खीर, ऋतु—रितु आदि।

(२) व्यञ्जनों के पञ्चम वर्ण ब्रजभाषा में अनुस्वार बन जाते हैं; जैसे, पङ्कज—पंकज, सन्त—संत, सम्वत्—संवत् आदि।

(३) उर्द्ध्वगामी 'रकार' ब्रजभाषा में सस्वर हो जाता है; जैसे, कर्म—करम, धर्म—धरम आदि।

(४) हलन्त वर्णों का भी ब्रजभाषा में सस्वर प्रयोग किया जाता है, जैसे, विद्वान्-विद्वान, वृहत्—वृहत आदि।

(५) कुछ शब्दों के मध्य का 'व' और 'य' ब्रजभाषा में क्रमशः 'औ' और 'ऐ' हो जाते हैं, जैसे, पवन—पौन, नयन—नैन, खयहौं—खैहौं आदि।

(६) संयुक्त वर्णों के अव्यय कहीं-कहीं अलग-अलग लिखे जाते हैं; जैसे, यत्न—जतन।

रूपावली

ब्रजभाषा की रूपावली में एक साधारण विशेषता यह है कि खड़ीबोली के अधिकांश आकारान्त पुलिंग शब्द उसमें 'ओकारान्त' रूप में पाए जाते हैं। 'ओकारान्त' की प्रवृत्ति ब्रजभाषा की एक प्रधान और प्रत्यक्ष विशेषता है जो संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रिया आदि सब में देखी जाती है। जैसे—

खड़ीबोली के आकारान्त पुलिंग शब्द	ब्रज रूप
संज्ञा—घोड़ा, सोना, तमाशा	घोड़ो, सोनो, तमासो।
सर्वनाम—मेरा, तेरा, अपना, जैसा, जितना	मेरो, तेरो, अपनो, जैसो, जितनो।

विशेषण—काला, बड़ा, ऊँचा, तिरछा	कारो, बड़ो, ऊँचों, तिरछो
क्रिया—आया, गया, किया, चला, जाऊँगा, करना आदि ।	आयो, गयो, कियो, चल्यो, जाऊँगो, करनों आदि ।

ब्रजभाषा में इस 'ओकारान्त' के नियम का अपवाद भी है; जैसे—

१. "क्यों हँसि हेरि हर्यो **हियरा** अरु क्यों हित कै चित चाह बढ़ाई ?"
—घनानन्द

२. "हे विधना ! तो सौं **अंचरा** पसारि माँगौं जनम-जनम दीजो याही ब्रज बसिबो"—छीतस्वामी

३. "जैहै जो भूषन काहू तिया को तो मोल **छला** के **लला** न बिकैहौ"
—रसखान

यहाँ 'हियरा' 'अँचरा' 'छला' 'लला' शब्दों के प्रयोग उक्त नियम के प्रतिकूल हुए हैं।

'ओकारान्त' होने के अतिरिक्त ब्रजभाषा के शब्द 'औकारान्त' और 'उकारान्त' भी होते हैं जैसे, चल्यौ, खैहौं, चलतु, जातु आदि ।

लिंग

खड़ीबोली के समान ब्रजभाषा में भी दो लिंग—पुलिंग और स्त्रीलिंग होते हैं। ब्रजभाषा में लिंग का निर्णय खड़ीबोली के लिंग-निर्णय के समान ही होता है। बहुधा प्राणिवाचक शब्दों का लिंग अर्थ के अनुसार जैसे घोड़ा, मोर पुलिंग और घोड़ी, मोरनी स्त्रीलिंग, अप्राणिवाचक शब्दों का लिंग रूप के अनुसार जैसे आकारान्त संज्ञाएं कपड़ा, पैसा आदि पुलिंग और ईकारान्त नदी, चिट्ठी, रोटी आदि स्त्रीलिंग निश्चित होते हैं। खड़ीबोली में पुलिंग से स्त्रीलिंग बनाने के लिए प्रत्यय 'ई' (बेटा—बेटी), 'इया' (कुत्ता—कुतिया), 'इन' (सुनार—सुनारिन), 'नी' (मोर—मोरनी), 'आनी' (देवर—देवरानी), 'आइन' (बाबू—बबुआइन) लगते हैं। इसी प्रकार ब्रजभाषा में स्त्रीलिंग बनाने में निम्न प्रत्यय प्रधान रूप से आते हैं—

ई. सखा—सखी, लरिका—लरिकी आदि ।

इनि. ग्वाल—ग्वालिनि, दुलहा—दुलहिनि आदि ।

इनी. हाथी—हथिनी, स्वामी—स्वामिनी, मानी—मानिनी आदि ।

इन. माली—मालिन, गरीब—गरीबिन आदि ।

वचन

खड़ीबोली के समान ब्रजभाषा में भी दो वचन—(१) एकवचन और (२) बहुबचन—होते हैं। ब्रजभाषा के कारक-चिन्हग्राही बहुवचन के रूपों में खड़ीबोली के समान 'ओं' का प्रयोग न होकर 'न' 'नि' और 'नु' के प्रयोग होते हैं; जैसे, बालकों को—बालकन को, कटाक्षों से—कटाछनि-सों, दृगों से—दृगनु सों आदि । ईकारान्त शब्दों में पूर्ववर्ती वर्ण को ह्रस्व करके 'यां' और अकारान्त व आकारान्त में क्रमशः 'ऐं' 'ए' के प्रयोग करते हैं; जैसे नदरानी—नदरनियाँ, आँख—आखैं, बात—बातैं, घोड़ा—घोड़े आदि । ऊकारांत संज्ञाओं में अन्त्य स्वर को ह्रस्व करके 'ऐं' जोड़ देते हैं; जैसे बहू—बहुऐं ।

कारक

हिन्दी में आठ कारक हैं। कारक सूचित करने के लिए संज्ञा या सर्वनाम के आगे प्रत्यय लगाए जाते हैं। इन प्रत्ययों को विभक्ति कहते हैं। ब्रजभाषा की विभक्तियाँ अपनी हैं जो बहुत-कुछ अवधी तथा खड़ीबोली से भिन्न हैं—

ब्रजभाषा की विभक्तियाँ

कारक	आधुनिक प्रयोग	प्राचीन प्रयोग	अवधी	खड़ीबोली
कर्त्ता—	ने, नैं	ने, नैं	×	ने
कर्म—	कौ, कौं, कूं, कुं, हिं, कहँ	को, कों, कौ, कौं, कूं, कुं	के, का, कहं	को
करण—	से, सैं, सें, सूं, ते, तें	सों, सौं, तें, ते	से, सौं, सन	से
सम्प्रदान—	तैं, तै, कौ, कौं, कूं, कुं, हिं	को, कों, कौ, कौं, कूं, कुं	के, का, कहं	को

अपादान—से, सैं, सै, सूँ, ते, तें	सों, सौ, तें, ते	स	से
सम्बन्ध—की, कै, कैं, कें	को, कों, की, कें, कैं	कर, कै केर	का, के की
अधिकरण—में, पै, माँहि, माँझ, मधि,	में, मैं, पै, पर, मधि माँझ, महँ, माँहि	में, मा, पर	में, पर
सम्बोधन—हे, अरे, अरी, अजी	हे, अरे, अरी, अजी	हे, अरे	हे, अरे

संज्ञा के उभय लिंग और वचन में इन कारक चिह्नों के प्रयोग इस भाँति होते हैं—

बालक (पुंलिग)

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	बालक ने	बालकन ने
कर्म और सम्प्रदान	बालक कौ, कौं, कूँ	बालकन कौ, कौं, कूँ
करण और अपादान	बालक से, सैं, तैं, ते	बालकन से, सैं, तैं, ते
सम्बन्ध	बालक कैं, की, कें	बालकन कैं, की, कें
अधिकरण	बालक मैं, पै, माँहि	बालकन मैं, पै, माँहि
सम्बोधन	हे बालक	हे बालकन

पुत्री (स्त्रीलिंग)

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	पुत्री ने	पुत्रीन ने
कर्म और सम्प्रदान	पुत्री कौं, कौ, कूं, कहँ	पुत्रीन कौं, कौ, कूं, कहँ
करण और अपादान	पुत्री से, सैं, तैं, ते	पुत्रीन से, सैं, तैं, ते

सम्वन्ध	पुत्री कैं, की, कें	पुत्रीन कैं, की, कें
अधिकरण	पुत्री मैं, पै, माँहि	पुत्रीन मैं, पै, माँहि
सम्बोधन	हे पुत्री	हे पुत्रीन

सर्वनाम

ब्रजभाषा में संज्ञाओं की अपेक्षा सर्वनामों में अधिक रूपान्तर होते हैं। 'यह', 'वह', 'सो', 'को', 'कौन' और 'जो' इन सर्वनामों के रूप कारक चिह्न लगने के पहले क्रमश: 'या', 'वा', 'ता', 'का' और 'जा' होते हैं। ये साधित रूप हैं। इन्हीं के आधार पर 'याने', 'वाको', 'तासो', 'काको', 'जाको' आदि रूप बनाए जाते हैं। इस प्रकार के साधित रूप खड़ीबोली में भी हैं जैसे, 'जिस', 'तिस', 'किस' 'उस' आदि। इनके आधार पर 'जिसने' 'तिसको', 'किसको', 'उसको' आदि रूप बनते हैं। ब्रजभाषा में सर्वनामों के रूप इस प्रकार हैं—

उत्तम-पुरुष सर्वनाम

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	मैं, में, हौं, हों, हूं	हम
(विकृत रूप)	मो, मोहि	हम
कर्म और सम्प्र०	माकौं, मोहिं, मोय, मोएँ, मोकहं	हमकौं, हमहिं, हमैं, हमनकौं, हमकहं
करण और अपा०	मोसौं, मोसों, मोते, मोतें	हमसौं, हमसों, हमतैं
सम्बन्ध (पु०)	मेरो, मेरौ, मेरे	हमारो (म्हारो), हमरौ, हमारे
(स्त्री०)	मेरी	हमारी
अधि०	मोमैं, मोपै	हममैं, हमपै

मध्यम-पुरुष सर्वनाम

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	तू, तैं, तें	तुम
(विकृत रूप)	तो	तुम
कर्म और सम्प्र०	तोहि, तोय, तोए, ताकौं, तोकहँ	तुमहिं, तुम्हें, तुमकौं, तुमैं, तुमकहँ,
करण और अपा०	तोसों, तोतें तोहितें,	तुमसौं, तुमसों, तुमतैं
सम्बन्ध (पु०)	तेरो, तेरौ, तेरे	तुम्हारो, तुमारौ, तिहारो, तिहारे, तुमारे, तुम्हारे
(स्त्री०)	तेरी	तुम्हारी, तिहारी, तुमारी
अधि०	तोहिमै, तोमैं, तोपै, तोहिपै	तोहिमें, तुमपै

अन्य-पुरुष सर्वनाम

(निकटवर्ती)

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	यह, या, जा, जे, जौ गि, गु, ग्या	यह, ये, जे, इन, जिन गे
कर्म और सम्प्र०	याहि, याय, जाए, याकौं, एहिकहँ	इनहिं, इन्हें, इनैं, जिनैं, इनकों, इनकहँ
करण और अपा०	यासों, याते	इनसौं, इनतैं
सम्बन्ध	याको, याकौ-के—की	इनको, इनकौ-के-की
अधि०	यामैं, यापै	इनमें, इनपै

(दूरवर्ती)

कर्ता	वह, वो, सो, ओ	वे, वै, ते
	बौ, बो, वौ, वो	बे, बै, वे, वै
	बा, वा, गु, ग्वा	उन, विन, बिन, तिन, ग्वे, ग्वनु
कर्म और सम्प्र०	वाहि, ताहि	उनहिं, उन्हें, तिनहिं, तिन्हें
	वाकौं, ताकौं, ताकहँ	उनकौं, तिनकौं
	बाए, वाए, ग्वाए	उनैं, बिनैं, ग्वनैं
करण और अपा०	वासों, तासों, वातें, तातें	उनसौं, उनतैं, तिनसौं, विनतैं, तिनतैं
सम्बन्ध	वाकौ-के-की, ताको-के-की	उनकौ-के-की, तिनको-के-की विनकौ-के-की
अधि०	वामें, तामें, वापै, तापै	उनमें, उनपै, तिनमें, तिनपै, विनमें, विनपै

निजवाचक सर्वनाम

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	आप, आपु	आप, आपु
कर्म और सम्प्र०	आपकौं, आपुकौं	आपकौं, आपुकौं, आपन कौं
करण और अपा०	आपसों, आपनसों आपुनसों,	आपसों, आपुनसों, आपनसों
सम्बन्ध	आपकौ-के-की	आपकौ-के-की
अधि०	आपमें, आपपै	आपमें, आपपै

सम्बंधवाचक सर्वनाम

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	जो, जौ, जा	जे, जिन
कर्म और सम्प्र०	जाकौं, जाहि,	जिनकौं, जिनहिं, जिन्हें
	जाय, जाए	जिनैं
	जाकहँ	जिनकहँ
करण और अपा०	जासौं, जातें	जिनसौं, जिनतैं
सम्बन्ध	जाको-के-की, जासु	जिनकौ-के-की
अधि०	जामें, जापै	इनमें, इनपै

सम्बंधवाचक के नित्य सम्बंधी सर्वनाम

कारक	एकबचन	बहुबचन
कर्त्ता	सो, सौ, ता	सो, से, ते, तिन
कर्म और सम्प्र०	ताकौं, ताहि	तिनकौं, तिनहिं, तिन्हें
	ताए	तिनैं
करण और अपा०	तासों, तातें	तिनसौं, तिनतैं
सम्बन्ध	ताको-के-की, तासु	तिनको-के-की
अधि०	तामें, तापै	तिनमें, तिनपै

प्रश्नवाचक सर्वनाम [प्राणिवाचक 'कौन']

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	को, कौन, कोन	कौ, कौन, कोन
	का	किन
कर्म और सम्प्र०	काकौं, काहि, कौनैं	किनकौं, किनहिं, किन्हें, किनैं

करण और अपा०	कासौं, कातें	किनसौं, किनतैं
सम्बन्ध	काकौ-के-की	किनकौ-के-की
अधि०	कामें, कापै	किनमें, किनपै

प्रश्नवाचक सर्वनाम [अप्राणिवाचक 'क्या']

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	कहा, का	कहा, का
(विकृत रूप)	काहे, काए	काहे
कर्म और सम्प्र०	काहेकौं	काहे कौं
करण और अपा०	काहे सों	काहे सों
सम्बन्ध	काहे-कौ-के-की	काहे कौ-के-की
अधि०	काहे में, काहे पै	काहे में, काहे पै

अनिश्चयवाचक सर्वनाम [कोई]

कारक	एकवचन	बहुवचन
कर्त्ता	कोऊ, कोई	कोऊ, कोई
	काऊ, काहू	किनऊ
कर्म और सम्प्र०	काहू कौं	काहू कौं
करण और अपा०	काहू सों	काहू सों
सम्बन्ध	काहू कौ-के-की	काहू कौ-के-की
अधि०	काहू में, काहू पै	काहू में, काहू पै

अनिश्चयवाचक सर्वनाम [कुछ]

कर्त्ता	कछु, कछू	कछु, कछू

अन्य कारकों के रूप इसके नहीं होते। 'सब' का प्रयोग 'कछु' के समान

होता है। 'सब' के रूप कर्त्ता एकवचन और बहुवचन में 'सब', 'सिगरे', 'सगरे' (पुलि०) तथा 'सबरी' 'सगरी' 'सिगरी' (स्त्रीलिंग) होते हैं।

क्रिया

सहायक क्रिया 'होनो'

वर्तमान निश्चयार्थ

(कर्त्ता पुलिंग या स्त्रीलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उत्तम पु०	मैं हूँ	हूँ, हौं, हों	हम हैं	हैं
मध्यम पु०	तू है	है	तुम हो	हौ
अन्य पु०	वह है	है	वे हैं	हैं

नोट—अलीगढ़ में उत्तमपुरुष एकवचन का रूप 'ऊँ' होता है।

भूत निश्चयार्थ

(कर्त्ता-पुलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उत्तमपु०	मैं था	हो, हौ, हतो, हतौ, हुतौ, हुतो, रह्यौ, भयो, भयौ, भो, भौ	हम थे	हे, हुते, हतैं, हतुऐ भये
मध्यमपु०	तू था	उ० पु० के रूप	तुम थे	उ० पु० के रूप के
अन्यपु०	वह था	के समान	वे थे	समान

(कर्त्ता-स्त्रीलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं थी	ही, हती, हुती, भई	हम थीं	हीं, हुतीं, भईं
म० पु०	तू थी	उ० पु० के रूप	तू थी	उ० पु० के रूप
अ० पु०	वह थी	के समान	वे थी	के समान

सामान्य संकेतार्थ

(कर्त्ता-पुलिंग या स्त्रीलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं होता, होती	होतौ, होतो, होतु होती	हम होते, होतीं	होते, होत होतीं
म० पु०	तू होता, होती	उ० पु० के	तुम होते, तीं	उ० पु० के
अ०पु०	वह होता, होती	रूप के समान	वे होते, होती	रूप के समान

भविष्य निश्चयार्थ

(कर्त्ता-पुलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं हूँगा, होऊँगा	ह्वै हौं, होउँगो, हौंगो	हम होंगे, होवेंगे	ह्वै हैं, होंयगे हैंगे, होंगे
म० पु०	तू होगा, होवेगा	ह्वै है, होयगो, हैगो	तुम होगे, होओगे	ह्वै हो, होउगे, होगे

अ० पु०	वह होगा, होवेगा	ह्वै है, होयगो, हैगो, होइहैं	वे होंगे, होवेंगे	ह्वै हैं, होंगे, होहिंगे हैंगे, होंयगे

(कर्त्ता स्त्रीलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं हूँगी, होऊंगी	ह्वै हौं, हौंगी	हम होंगी, होवेंगी	ह्वै हैं, होयंगी हैंगी
म० पु०	तू होगी, होवेगी	ह्वै है, हैगी	तुम होगी, होवोगी	ह्वै हौ, हौगी
अ० पु०	वह होगी, होवेगी	होयगी, हैगी	वे होंगी, होवेंगी	ह्वै हैं, हैंगी

संभाव्य भविष्यतकाल

(कर्त्ता-पुलिंग या स्त्रीलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं हों, होऊँ	हौं, होहुँ, होउं	हम हों, होवें	होहिं, होयँ
म० पु०	तू हो, होवे	होय	तुम हो, होओ	होहु, होउ
अ० पु०	वह हो, होवे	होय, होइ, होई	वे हों, होवें	होहिं, होयं

खड़ीबोली की साधारण क्रियाएँ केवल 'ना' से अन्त होने वाली होती हैं; जैसे लिखना, पढ़ना, जाना आदि। परन्तु ब्रजभाषा की क्रियाएँ प्राय: 'नो' 'न' और 'बो' से अन्त होने वाली होती हैं, जैसे—

'नो' से अन्त होने वाली—दीनो, लीनो, कीनो आदि।

'न' से अन्त होने वाली—आवन, लेन, देन आदि।

'बो' से अन्त होने वाली—निहारिबो, बिगारिबो, झिझकारिबो आदि।

समझने के लिए अकर्मक 'चलना' क्रिया (कर्तृवाच्य) का रूप क्रिया के पाँचों अर्थों—(१) निश्चयार्थ, (२) संभावनार्थ, (३) संदेहार्थ, (४) अज्ञार्थ, और (५) संकेतार्थ में देखा जा सकता है।

धातु — चल्

क्रियार्थक संज्ञा—चलना, चलनो, चलिबो

वर्तमानकालिक कृदन्त—चलत, चलतु

भूतकालिक कृदन्त—चल्यौ

पूर्वकालिक कृदन्त—चलि, चलिकै

ब्रजभाषा में पुलिङ्ग तथा स्त्रीलिंग दोनों में वर्तमानकालिक कृदन्त के रूप व्यंजनान्त धातुओं में 'अत' तथा स्वरान्त धातुओं में 'त' लगाकर बनाए जाते हैं। इन रूपों के अतिरिक्त पुलिंग में 'अतु' तथा स्त्रीलिंग में 'ति' या 'ती' लगाकर भी रूप बनते हैं।

[क] वर्तमानकालिक कृदंत से बने हुए काल

(१) सामान्य संकेतार्थकाल (कर्त्ता-पुलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चलता	चलतु	हम चलते	चलत
म० पु०	तू चलता	चलतु	तुम चलते	चलत
अ० पु०	वह चलता	चलतु	वे चलते	चलत

(२) सामान्य वर्तमानकाल (कर्त्ता-पुलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चलता हूँ	चलतु हौं	हम चलते हैं	चलत हैं
म० पु०	तू चलता है	चलतु है	तुम चलते हो	चलत हौ
अ० पु०	वह चलता है	चलतु है	वे चलते हैं	चलत हैं

(३) अपूर्ण भूतकाल (कर्त्ता-पुंलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चलता था	चलतु हो	हम चलते थे	चलत हे
म० पु०	तू चलता था	चलतु हो	तुम चलते थे	चलत हे
अ० पु०	वह चलता था	चलतु हो	वे चलते थे	चलत हे

(४) संभाव्य वर्तमानकाल (कर्त्ता-पुंलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चलता होऊं	चलतु होउं	हम चलते हों	चलत हौं
म० पु०	तू चलता हो	चलतु हो	तुम चलते होओ	चलत होउ
अ० पु०	वह चलता हो	चलतु हो	वे चलते हों	चलत हौं

(५) संदिग्ध-वर्तमानकाल (कर्त्ता-पुंलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चलता होऊँगा	चलतु होऊंगो	हम चलते होंगे	चलत हौंगे
म० पु०	तू चलता होगा	चलतु होगो	तुम चलते होगे	चलत होउगे
अ० पु०	वह चलता होगा	चलतु होगो	वे चलते होंगे	चलत हौंगे

(६) अपूर्ण संकेतार्थ (कर्त्ता-पुंलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चलता होता	चलतु होतो	हम चलते होते	चलत होते

म० पु०	तु चलता होता	चलतु होतो	तुम चलते होते	चलत होते
अ० पु०	वह चलता होता	चलतु होतो	वे चलते होते	चलत होते

वर्तमान आज्ञार्थ में 'चल' का ब्रजभाषा-रूप मध्यम-पुरुष एकवचन में 'चल' और बहुवचन में 'चलो' होता है। पूर्वी जिलों में मध्यम-पुरुष एकवचन में 'चलु' और बहुवचन में 'चलहु' होता है।

[ख] भूतकाल

(१) सामान्य भूतकाल (कर्त्ता-पुंलिग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चला	चल्यौ	हम चले	चले
म० पु०	तु चला	चल्यौ	तुम चले	चले
अ० पु०	वह चला	चल्यौ	वे चले	चले

(२) आसन्न भूतकाल (कर्त्ता-पुंलिग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चला हूं	चल्यौ हौं	हम चले हैं	चले हैं
म० पु०	तु चला है	चल्यौ है	तुम चले हो	चले हौ
अ० पु०	वह चला है	चल्यौ है	वे चले हैं.	चले हैं

(३) पूर्ण भूतकाल (कर्त्ता-पुंलिग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चला था	चल्यौ हो	हल चले थे	चले हे
म० पु०	तू चला था	चल्यौ हो	तुम चले थे	चले हे
अ० पु०	वह चला था	चल्यौ हो	वे चले थे	चले हे

(४) संभाव्य भूतकाल (कर्त्ता-पुलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चला होउं	चल्यौ हौंऊं	हम चले हों	चले हौं
म० पु०	तू चला हो	चल्यौ हो	तुम चले होओ	चले होउ
अ० पु०	वह चला हो	चल्यौ हो	वे चले हों	चले हौं

(५) संदिग्ध भूतकाल (कर्त्ता-पुलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चला होऊंगा	चल्यौ होउंगौ	हम चले होंगे	चले हौंगे
म० पु०	तू चला होगा	चल्यौ होयगौ	तुम चले होगे	चले होउगे
अ० पु०	वह चला होगा	चल्यौ होयगौ	वे चले होंगे	चले हौंगे

(६) पूर्ण संकेतार्थ (कर्त्ता-पुलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चला होता	चल्यौ होतौ	हम चले होते	चले होते
म० पु०	तू चला होता	चल्यौ होतौ	तुम चले होते	चले होते
अ० पु०	वह चला होता	चल्यौ होतौ	वे चले होते	चले होते

'हो' धातु का भूतकाल खड़ीबोली में 'था' है, पर ब्रज में 'हुतो', 'हुते', 'हतो', 'हो', 'हे' होते हैं ।

[ग] भविष्यत् काल

(१) सामान्य भविष्यत् काल (कर्त्ता-पुलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चलूंगा	चलुंगो, चलौंगो चलिहौं	हम चलेंगे	चलंगे, चलैंगे, चलिहैं
म० पु०	तू चलेगा	चलैगो, चलिहै	तुम चलोगे	चलौगे, चलिहौ
अ० पु०	वह चलेगा	चलैगो, चलिहै	वे चलेंगे	चलैंगे, चलिहैं

(२) संभाव्य भविष्यत्
(कर्त्ता पुलिंग या स्त्रीलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चलूं	चलौं	हम चलें	चलैं
म० पु०	तू चले	चलै	तुम चलो	चलौ
अ० पु०	वह चले	चलै	वे चलें	चलैं

(३) प्रत्यक्ष विधिकाल (साधारण)
(कर्त्ता पुलिंग या स्त्रीलिंग)

	एकवचन		बहुवचन	
	खड़ी	ब्रज	खड़ी	ब्रज
उ० पु०	मैं चलूँ	चलौं	हम चलें	चलैं
म० पु०	तू चल	चल	तुम चलो	चलौ
अ० पु०	वह चले	चलै	वे चलें	चलैं

(आदर सूचक)

	खड़ीबोली	ब्रजभाषा
म० पु०	आप चलिए या चलिएगा	चलिए या चलिहौ

(४) परोक्ष विधिकाल (साधारण)

	खड़ी	ब्रज
म० पु०	तुम चलना या चलियो	चलियौ, चलिए

ब्रजभाषा में अन्य पश्चिमी भाषाओं के समान 'ग' लगाकर भविष्य का बोध कराते हैं, जैसे 'चलुंगो', 'चलैगो' आदि। अवधी के 'ब' (करब, चलब) के समान इसमें 'ह' (इहौं, इहैं, इहै, इहौ) लगाकर भी भविष्य का रूप बनाते हैं, जैसे 'चलिहौं, चलिहैं' आदि। इस प्रकार ब्रजभाषा में 'ग' (गो) और 'ह' (इहौ आदि) से बने हुए भविष्य के दोनों रूप समान भाव से मिलते हैं। इनमें 'ह' रूप की अधिकता है।

अव्यय

ब्रजभाषा में प्रयुक्त क्रिया विशेषण के रूपों में अधिक रूपान्तर मिलते हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो प्रादेशिक प्रयोग की प्रचुरता और दूसरे छन्द की आवश्यकतानुसार उनमें रूपान्तर करना।

(१) स्थान वाचक

खड़ी	ब्रज
यहाँ	इहाँ, इत, इते, ह्याँ
वहाँ	उहाँ, ह्वाँ, उत
तहाँ	तहाँ, तहँ, तित, तिते
जहाँ	जहाँ, जहं, जहवाँ, जित, जिते
कहाँ	कहाँ, कहँ, किब, किबे

(२) **काल वाचक**

खड़ी	ब्रज
आज	आज, आजु, अजौं, अजहूं
अब	अब, अबहिं (अभी)
क्षण	छिन, छिनु, छिनकु

(३) **रीति वाचक**

ऐसे	ऐसौ, ऐसें, अस, यों, इमि
वैसे	वैसो, वस, तिमि
कैसे	कैसे, कस, क्यों, किमि
जैसे	जैसे, जस, ज्यों, जिमि

(४) **परिमाण वाचक**

कुछ	कछू, कछुक

(५) **निषेध वाचक**

नहीं, न	नहीं, नहिं, नाहीं, नाँहि, नाहिन, ना, न

(६) **समुच्चय बोधक**

और	और, अरु, औ
फिर	फेरि, पुनि आदि

वाक्य

वाक्य-रचना के नियम खड़ी और ब्रज दोनों भाषाओं में समान हैं। साधारण नियम यह है कि वाक्य के आरम्भ में 'कर्त्ता' फिर 'कर्म' और अन्त में 'क्रिया' रहती है। 'विशेषण' संज्ञा या सर्वनाम के पहले या बाद को रखा जाता है। 'क्रियाविशेषण' क्रिया के पहले आता है। वाक्य के किसी अंश पर जोर देने के लिए इस क्रम में उलट-फेर भी कर दिया जाता है।

ब्रजभाषा का यह सांगोपांग व्याकरण नहीं है। यह केवल उसकी रूप-रचना की ओर संकेतमात्र है। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि खड़ीबोली और ब्रजभाषा की आकृति-प्रकृति में बड़ा भेद है। खड़ीबोली की अपेक्षा ब्रजभाषा में शब्दों के रूपान्तर अधिक होते हैं। एक ही अर्थ को प्रकट करने के लिए ह्रस्व व दीर्घ मात्राओं वाले शब्दों के उसमें अनेक रूप हैं। एक ओर जहाँ शब्द-रचना की ब्रजभाषा की यह प्रवृत्ति खटकती है और भाषा में अस्थिरता उत्पन्न करती है, वहाँ दूसरी ओर उसकी इसी विशेषता ने उसे अधिक काल तक पद्य की भाषा बनाए रखने में उसकी बड़ी सहायता की है। पद्य रचना में कवियों को ह्रस्व और दीर्घ की मात्राएँ जहाँ अन्य भाषाओं में काफी कठिनाई उपस्थित करती हैं, वहाँ ब्रजभाषा के शब्दों की इस बहुरूपता ने उनके कार्य को सरल बनाया है। इसीसे कवियों को ब्रजभाषा में कविता करना सरल होता है। ब्रजभाषा की क्रियाओं में भी लाघव है। 'देख करके' इस इतनी विस्तार वाली खड़ीबोली की क्रिया के लिए ब्रजभाषा में 'लखि' 'निरखि' 'अवलोकि' यथावसर काम दे देते हैं। इसी से ब्रजभाषा के छोटे-छोटे पदों में बड़े-बड़े भावों का समावेश पाया जाता है।

काव्य-रचना की छूट

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त एक अन्य कारण और भी है जिससे ब्रजभाषा के कवियों को इस भाषा में कविता करना आसान लगा। वह है ब्रजभाषा की 'तसर्रुफात शायरी'। इसे 'पोइटिकल लाइसेंस' (Poetical licence) या 'काव्य-रचना की छूट' कहते हैं। संक्षेप में वे इस प्रकार हैं—

(क) ब्रजभाषा का यह सर्वमान्य नियम है कि 'गुरुलघु, लघुगुरु होत हैं निज इच्छा अनुसार'। इस नियम के अन्तर्गत कवि किसी भी शब्द को लघु से गुरु तथा गुरु से लघु बना सकता है। वह प्रयोजन पड़ने पर 'सुमुखी' को 'सुमुखि' एवं 'विशाल' को 'विशाला' लिख सकता है।

(ख) ब्रजभाषा में कारक-चिह्नों का लोप क्षम्य है। दूसरी भाषाओं में

कारक-चिह्नों के लोप से अर्थ का अनर्थ हो सकता है; पर ब्रजभाषा के कवि व पाठक इस प्रकार अभ्यस्त हैं जैसे कारक-चिह्नों का लोप उन्हें खटकता ही नहीं।

(ग) ब्रजभाषा की प्रकृति संयुक्त वर्ण से बचने की है, किन्तु कवियों ने दोनों प्रकार के प्रयोगों की छूट ले रखी है; यथा, 'निरगुन' और 'निर्गुन' आदि।

(घ) अक्षर-मैत्री, कोमल शब्द-विन्यास, तथा छन्दों के आग्रह पर शब्दों को विरूप करना ब्रजभाषा में ग्राह्य है।

सरस और अलंकृत रचना के लिए ब्रजभाषा के कविगण भाषा में विकार का इस प्रकार आ जाना अनिवार्य समझते हैं। इन कवियों की ऐसी धारणा है कि कोई भाषा हो बिना उसके शब्दों तथा वाक्यों का काट-छाँट किए वह भाव और छन्द के अनुरूप नहीं बनाई जा सकती। जो कुछ भी हो काव्य-रचना की इन छूटों ने कवियों को सुविधा तो निःसन्देह प्रदान की, परन्तु इससे भाषा का स्थायित्व गुण जाता रहा। जब ब्रजभाषा के कवि इस दिशा में एक कदम और आगे बढ़ स्वच्छन्दतापूर्वक शब्दों के मनगढ़न्त प्रयोग करने लगे तो भाषा और भी शिथिल हो गई। कहीं-कहीं तो उन मनगढ़न्त शब्दों के अर्थ भी समझने कठिन हो गए। ऐसे शब्दों के प्रयोग से पद की 'ध्वनि' और 'यति' तो अवश्य ठीक बन जाती है, पर भाषा और भाव दोनों की हत्या होती है। 'पावस' की प्रशंसा में लिखा 'पजनेस' कवि का यह पद अवलोकनीय है—

'पजनेस झंझा झांझ झोकत झपाक झंपा,
    झूरा झूर झरनि झिरेंगे झुरवान में।
कुकुम करिन्द ह्वै है बधिर गराजन तें,
    तीछन तरापै कोटि कोटिन कुवान में॥
धावत धधात धिग धीर धमधुंधा धुंध,
    धराधर अधर धराधर धुवान में।
धूरधुन्ध धूंधर धुधात धूम धुधरित,
    धुंधर सुधुंधरित धुनि धुरवान में॥'

इस पद में मनगढ़न्त शब्दों की भरमार है। भाषा और भाव दोनों के साथ अत्याचार हुआ है। ब्रजभाषा का यह एकाकी उदाहरण नहीं है। रीतिकाल के पिछले खेवे के अधिकांश कवियों ने शब्दों के मनमानी प्रयोग द्वारा भाषा को दूरूह बनाया और चौपट किया है। अन्त में वह इसीसे बदनाम भी हुई। उस पर शिथिलता, विरूपता और शब्दों के अंग-भंग करने के दोष लगाए गए। पद्य-रचना में इस प्रकार के 'रियायती अधिकार' अपभ्रंश के कवियों को भी प्राप्त थे। इसी परम्परा में ब्रजभाषा के कवियों को भी यह अधिकार मिला मालूम होता है।

वे प्रधान कारण जिनसे ब्रजभाषा विकृत और विरूप बनी

ब्रजभाषा को अव्यवस्थित और दोषयुक्त बनाने में केवल उक्त कारण ही प्रधान न थे। इसके मूल में और भी बड़े कारण थे जिनसे वह विकृत और विरूप हुई। एक तो ब्रजभाषा पर अनुशासन के लिए उसमें सदैव अच्छे व्याकरण का अभाव रहा है। दूसरे, ब्रजभाषा में गद्य का पूरा-पूरा विकास न होने से भाषा संबंधी उच्छृङ्खलता और गड़बड़ी उसमें बराबर बनी रही, क्योंकि भाषा की शुद्धता आदि पर गद्य का सहज नियंत्रण होता है। तीसरे, रीतिकाल में जिन राज-दरबारों तथा रईसों के लिए ब्रजभाषा की कविता लिखी जाती थी वे केवल उसके अलंकृत तथा चमत्कारिक वर्णन की ही प्रशंसा करते थे। भाषा के विकार की ओर उनका ध्यान न होता था। चौथे, ब्रजभाषा का व्यवहार व्यापक क्षेत्र में होने से उसमें अन्य भाषाओं जैसे अवधी, कन्नौजी, बुन्देली, वैसवाड़ी आदि के शब्दों का घोलमेल भी चल रहा था। कहीं-कहीं तो अन्य भाषा की क्रियाओं का भी प्रयोग हुआ है, जैसे—"नैन मूदे पै न फेर फितूर को टंच, न टोभ कछू छियना है—" पद्माकर। यहाँ 'छियना' बुन्देली भाषा की क्रिया है। एक भाषा की क्रिया का प्रयोग दूसरी भाषा में करना सर्वथा अवांछित है। पाँचवे, ब्रजभाषा से परिचय प्राप्त करने के लिए कोई उपयुक्त साधन न था। वह केवल पूर्ववर्ती कवियों की रचनाओं द्वारा, जिनमें स्वयं वैकल्पिक रूपों की भरमार है, सीखी जा सकती थी। आचार्य भिखारीदास ने 'काव्यनिर्णय' में जिन पूर्ववर्ती कवियों की सूची ब्रजभाषा का ज्ञान प्राप्त करने के लिए दी है वह इस प्रकार है—

"सूर, केशव, मंडन, बिहारी, कालिदास, ब्रह्म,
चिन्तामरिण, मतिराम, भूषन, सुज्ञानिए।
लीलाधर, सेनापति, निपट, नेवाज, निधि,
नीलकंठमिश्र, सुखदेव, देव मानिये ।।
आलम, रहीम, रसखानि, सुन्दरादिक,
अनेकन सुमति भये कहाँ लौं बखानिये ।।
ब्रजभाषा हेत ब्रजभाषा ही न अनुमानो,
ऐसे-ऐसे कविन की वानिन हूँ सो जानिये ।।"

ये ही प्रधान कारण थे जिससे वह दोषयुक्त होती गई। जब-तब उसको सुधारने और परिष्कृत करने के भी प्रयत्न कवियों द्वारा किए गए, पर १६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध की बदलती हुई राजनीतिक एवं सामाजिक परिस्थितियों ने उसको काव्य-क्षेत्र से हटने के लिए विवश किया। इसकी चर्चा अन्यत्र की जाएगी।

ब्रजभाषा की विशेषता

इन कतिपय दोषों को होते हुए भी ब्रजभाषा में भाषा सम्बन्धी अपनी अनेक विशेषताएँ हैं। ब्रजभाषा एक समृद्ध भाषा है। इसका साहित्य बड़ा विशाल है। इसकी स्वाभाविक मिठास की सत्यता को सभी स्वीकार करते हैं। यह भाषा तद्भव और अर्द्धतत्सम शब्दों के अधिक निकट है। इसीसे इस भाषा की जातीय सरसता इसमें बराबर बनी हुई है। ग्राम्य, देशज और प्रान्तिक शब्दों को आत्मसात् करने की भी इसमें अद्भुत शक्ति पाई जाती है। 'एक बिटिनियाँ कारैं खाई, ताकौं स्याम तुरत ही ज्याई' पद में ग्राम्य शब्द 'बिटिनियाँ' का कितना सुन्दर और सरस व्यवहार हुआ है। यों तो ब्रज-भाषा के शब्द स्वाभाविक रुप से श्रुति-मधुर हैं ही, पर कवि कुछ शब्दों के अन्त में 'आ' 'या' 'रा' 'वा' आदि जोड़कर उसका उच्चारण और भी मधुर बना लेते हैं, जैसे—

१. 'सखि ये नैना बहुत बुरे'।

२. 'मेरो नान्हरिया गोपाल बेगि बड़ौ किन होहिं'।

शब्दों की श्रुति-मधुरता के कारण ही ब्रजभाषा की पदावली संगीतमय होकर बरबश हृदय को चुराती रही है। उसके पदों को पढ़ने में वाणी को श्रम नहीं करना पड़ता, वह अपने आप फिसलती चलती है। न केवल उसका साहित्यिक, अपितु उसका ग्रामीण रूप भी उतना ही मधुर है। ब्रज की ग्रामीण बोली में जितना सरस प्रवाह भरा है उतना तो किसी अन्य भाषा के साहित्यिक रूप में भी देखने को नहीं मिलता। 'अलीहर्जी' नामक फारसी विद्वान ब्रज की एक छोकरी के मुख से ही 'माय री माय मग साँकरी पाँयनु मा काँकरी गड़तु हैं' सुनकर फारसी के माधुर्य का गर्व त्याग कर चला गया था। इस खड़ीबोली के युग में भी यदि सिनेमा के गानों को देखें तो विदित होता है कि शब्दों की श्रुति मधुरता के कारण ही वह न्यूनाधिक संगीत का माध्यम बनी हुई है। जहाँ तक भाषागत लालित्य का प्रश्न है आज भी कोई भाषा उसके पटतर नहीं रखी जा सकती। इसीसे पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने कहा है—'मंजु मनोहर भाषा या सम कोउ न जग में'। यह अत्युक्ति नहीं, सत्य है।

अध्याय २

ब्रजभाषा का निर्माण-काल

सन् १५०० ई० के पूर्व

ब्रजभाषा ने हमारे साहित्यिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का चार-पाँच सौ वर्षों तक प्रतिनिधित्व किया है। इसकी कहानी लम्बी और सुरुचिपूर्ण है। इसके विकास की पृष्ठभूमि में यहाँ यह देखना है कि देश की तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक आदि किन-किन अवस्थाओं ने इसकी सहायता की है; तथा वे कौन-कौन सी परिस्थितियाँ हैं जिनसे इसके जीवन में गहरे उतार-चढ़ाव आए हैं।

काल-विभाजन

विद्वानों ने हिन्दी-साहित्य के इतिहास को साधारणतः तीन कालों में विभक्त किया है—(१) आदिकाल सन् १००० से १४०० ई०,

(२) मध्यकाल सन् १४०० से १८०० ई०, और (३) वर्तमानकाल सन् १८०० ई० के उपरान्त । इनमें मध्यकाल का इतिहास ही वास्तव में ब्रजभाषा के उत्थान और विकास का काल है । ब्रजभाषा के साहित्यिक जीवन को पूर्णरूप से समझने के लिए उसको तीन कालों में बाँटा जा सकता है । (१) निर्माण-काल सन् १५०० ई० के पूर्व, (२) उत्कर्ष-काल सन् १५०० से १८०० ई०, और (३) ह्रास-काल सन् १८०० ई० के उपरान्त । इनमें उत्कर्ष-काल के प्रधान दो विभाग हैं——(क) भक्तिकाल सन् १५०० से १७०० ई०, और (ख) रीतिकाल सन् १७०० से १८०० ई० ।

प्राकृत व अपभ्रंश

आधुनिक आर्यभाषाओं का उद्गम प्राकृत भाषा से है। विद्वानों ने प्राकृत को तीन भागों में बाँटा है—(१) पहली प्राकृत, (२) दूसरी प्राकृत, और (३) तीसरी प्राकृत । पहली प्राकृत को 'मूलप्राकृत' अथवा 'आर्ष-प्राकृत' भी कहते हैं। ग्रियर्सन ने प्रथम प्राकृत का समय २००० ई० पू० से लेकर ६०० ई० पू० तक माना है। 'आर्षभाषा' का प्राचीनतम रूप जो प्राप्त है वह है 'ऋग्वेद' की भाषा । प्राचीन भाषा की जानकारी के लिए आज इससे प्राचीन कोई ग्रंथ संसार में उपलब्ध नहीं है । 'ऋग्वेद' की भाषा देखने से ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह किसी बोलचाल की भाषा का विकसित और परि-मार्जित रूप अवश्य है। उसकी ऋचाएँ प्रौढ़ एवं प्रांजल भाषा में हैं । जिस बोलचाल की भाषा से उसको यह साहित्यिक रूप मिला आज उसके सम्बन्ध में कुछ भी पता नहीं है। 'हरिऔध जी' तथा कुछ अन्य विद्वानों का मत है कि वैदिक भाषा के शब्दों के टूटने तथा देशज शब्दों के मिश्रण से जिस बोली का विकास ६०० ई० पूर्व हुआ वह प्रथम प्राकृत का ही एक अन्यतम रूप है और इसी को 'पाली' कहते हैं । इसी पाली के अनन्तर दूसरी प्राकृतें आती हैं जिनके नाम—मागधी, अर्द्धमागधी, महाराष्ट्री और शौरसेनी—देशपरक हैं । गौतमबुद्ध के समय तक इस प्रथम प्राकृत के जिन रूपों का निर्देश सुनीतिकुमार चैटर्जी करते हैं, वे हैं—(१) उदीच्या, (२) मध्यदेशीया, और (३) प्राच्या । उदीच्या पेशावर और उत्तरी पंजाब के आसपास, मध्यदेशीया मध्यदेश, तथा प्राच्या पूर्वी भारत

में बोली जाती थीं।

दूसरी प्राकृतें हैं–(१) मागधी, (२) अर्द्धमागधी, (३) महाराष्ट्री, और (४) शौरसेनी। ग्रियर्सन ने ईस्वी पूर्व छठी शताब्दी से लेकर ईस्वी की दसवीं शताब्दी का काल इन प्राकृतों का माना है। इस काल के भीतर ग्रियर्सन ने अपभ्रंश को भी सम्मिलित कर लिया है। सुनीतिकुमार चैटर्जी ने इस काल की प्राकृतों को तीन अवस्थाओं में विभक्त किया है—(१) प्रारम्भिक अवस्था, (२) मध्यकालीन अवस्था, और (३) उत्तरकालीन अवस्था। प्रारम्भिक अवस्था ४०० ई० पूर्व से १०० ई० तक थी। इसमें पाली और अशोक के शिलालेखों की प्राकृत आती है। मध्यकालीन अवस्था १०० ई० से लेकर ५०० ई० तक थी। इसमें शौरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी, अर्द्धमागधी और पैशाची का प्रचार था। उत्तरकालीन अवस्था ५०० ई० से लेकर १००० ई० तक थी। यह काल अपभ्रंश भाषाओं का है। इन दूसरी प्राकृतों में शौरसेनी प्राकृत का स्थान मुख्य रहा है। भारत के पश्चिमाञ्चल की भाषा होते हुए भी चिरकाल तक वह एक विस्तृत क्षेत्र में प्रयुक्त होती रही।

तीसरी प्राकृत 'अपभ्रंश' है। इसका काल ६०० ई० से लेकर १००० ई० तक था। परन्तु, अपभ्रंश भाषाओं का व्यवहार १४ वीं शताब्दी तक निर्बाध होता रहा और इनमें रचनाएं भी होती रहीं। दूसरी प्राकृतों में प्रत्येक से एक अपभ्रंश की कल्पना की गई है; जैसे, मागधी प्राकृत से मागधी अपभ्रंश की, शौरसेनी प्राकृत से शौरसेनी अपभ्रंश की, और महाराष्ट्री प्राकृत से महाराष्ट्री अपभ्रंश की। इस प्रकार का इनका देशगत विभाजन व्याकरण के प्राचीन ग्रंथों में नहीं मिलता। वहाँ इनके संस्कार और प्रसार को दृष्टि में रखकर इनका विभाजन (१) नागर, (२) उपनागर, और (३) ब्राचड में किया गया है। शौरसेनी अपभ्रंश ही 'नागर अपभ्रंश' कही जाती थी। यह शौरसेनी या नागर अपभ्रंश उत्तर भारत में उस समय एक प्रधान साहित्यिक भाषा के रूप में विराजती थी। संस्कृत के पश्चात् उसी का स्थान साहित्य में मुख्य था।

अपभ्रंश के सम्बन्ध में कुछ विद्वानों की धारणा है कि वह आभीर, गुर्जर आदि बर्बर जातियों की भाषा थी—

'आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंशतयोदितम् ।।'
—(दण्डी-काव्यादर्श, १-३६)

इस मत का खण्डन अब हो चुका है। अपभ्रंश का उद्‌भव प्राकृत भाषाओं से है, और अन्ततोगत्वा वर्तमान भारतीय आर्यभाषाएं इन्हीं अपभ्रंशों की परिवर्तित रूप हैं।

हिन्दी का आरम्भ काल

वर्तमान आर्यभाषाओं का आरम्भ काल १००० ई० माना जाता है। कोई-कोई विद्वान् जैसे डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने अपने लेख 'बोली से साहित्यिक भाषा' में इन आधुनिक बोलियों के सम्बन्ध में दाक्षिण्याचार्य चिन्होद्योतन की 'कुवलयमाला कथा' का परिचय देते हुए लिखा है कि इनका आरम्भ सन् ७७८ ई० के पहले हो गया था। इस कथा में १६ प्रान्तीय भाषाओं के उदाहरण पाए जाते हैं। एक पद में हिन्दी के दो सर्वनाम 'तेरे' 'मेरे' और एक क्रिया 'आउ' स्पष्ट दिखाई देते हैं—

"णाय-णीति-संधि-विग्गह पडुए बहु जंपिरेय पयतीए।
'तेरे मेरे आउ' त्ति जंपिरे मज्झूदेसेय ।।"

इससे साफ है कि मध्यदेश (मज्झूदेसेय) में हिन्दी बोलचाल में बहुत पहले से आने लग गई थी। इधर हिन्दी के कुछ प्राचीन ग्रन्थों का भी उल्लेख मिला है; जैसे, पुष्य कवि का 'अलंकारशास्त्र की भाषा दोहरों में' (सन् ७१५ ई०), अब्दुल्ला एराकी का 'कुरान का तर्जुमा हिन्दी में' (सन् ८७० ई०), और मसऊद साद सलमा का एक 'दिवान' (सन् ९०० ई०)। इनमें से आज एक भी रचना उपलब्ध नहीं है, पर इससे यह जाहिर है कि आधुनिक बोलियाँ १००० ई० के पूर्व से अपभ्रंश से अलग होनी आरम्भ हो गई थीं। यह दूसरी बात है कि अपभ्रंश ने उनको १४ वीं शती तक दबाए रखा। इस अपभ्रंश-

काल में हिन्दी (ब्रज, अवधी और खड़ी आदि) किस प्रकार अपना सिर उठा रही थी यह इस काल की रचनाओं को देखने से प्रकट हो जाता है। पश्चिम में जैन और नाथ, और पूर्व में वज्रयानी सिद्धों को जब अपने धर्म-उपदेश जन साधारण को सुनाने की आवश्यकता का अनुभव हुआ तो उन्होंने अपनी रचनाओं में अपभ्रंश को संस्कृत के विरोध में अपनाया और उनमें स्थानीय बोलियों के प्रचलित शब्दों का भी व्यवहार किया। यथा—

'जहि मण पवण ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि बढ़ ! चित्त विसाम करु, सरहें कहिउ उएस ॥'
—सरहपा

'दसहिं कंठेहि दसजे कंठाइं दस भालहिं तिलय'[1] दस।
दस सिरेहिं दस मउड[2] पज्जलिय[3] ॥''
—स्वयंभू

'काआ तरुवर पंच' बि डाल, चंचल चीए पइट्ठा काल।
दिढ करिअ महासुह परिमाण, लुई भणइ गुरु पुच्छिअ जाण।'
—लुईपा

'जिम लोण विलिज्जइ पाणिएहि, तिम घरणी लइ चित्त।
समरस जाई तक्खणों, जइ पुणु ते सम नित्त ॥'
—कण्हपा

'अबूझि बूझि लै हो पंडिता, अकथ कथिलै कहाणी।
सीस नवावत सतगुर मिलिया, जागत रैण विहाणी ॥''
—गोरक्षपा

ये रचनाएं १२ वीं शती के पूर्व की हैं। इनमें हिन्दी शब्दों के स्वर साफ

१ तिलक, २ मुकुट, ३ प्रज्वलित

सुनाई पड़ रहे हैं। १२ वीं और १३ वीं शताब्दियों में हिन्दी और स्पष्ट हुई—

'भल्ला हुआ जो मारिआ, वहिणि महारा कन्तु।
लज्जेज्जंतु बयंसियहु, जइ भग्गा घरु एन्तु॥'

—हेमचन्द्र सूरि

'नव जोवन विलसंत देह नवनेह गहिल्ली[1]।
परिमल लहरिहि मदमयंत रइ[2] केलि पहिल्ली[3]॥
अहरबिंब परवाल खण्ड वर-चंपावन्नी।
नयन सलूणिय हावभाव बहुगुण संपुन्नी॥
इय सिणगार करेवि वर, जब आवी मुणि पासि।
जो एवा कउतिगि मिलिय, सुर किंनर आकासि॥'

—जिनपद्मसूरि

'चलिअ वीर हम्मीर,
पाअभर मेइणि कंपइ।
दिगमगणह अंधार,
धूरि सूरिय रह झँपइ॥'

—जज्जल

हिन्दी की यह झलक १२ वीं और १३वीं शताब्दियों की अपभ्रंश की रचनाओं में बराबर दिखाई पड़ती है। १४ वीं शती के समाप्त होते-होते तो विद्यापति ने यह देखा कि लोगों को देशी बोली ही अधिक प्रिय लगती है—

'देसिल बअना सब जन मिट्ठा, तँ तैसन जम्पञ अवहट्ठा।'

---

१. ग्रहण किए २. रस ३. पहिली

इसीसे उन्होंने 'कीर्तिलता' अवहट्ट (अपभ्रंश) में लिखी जिसमें मैथिली की प्रधानता है। इसी १४ वीं शती के मध्यकाल (१३५० ई०) में खुसरो आते हैं। शुद्ध और चलती हिन्दी में उनकी इस प्रकार की रचनाएँ देखकर हमें आश्चर्य होता है—

'स्याम बरन की एक है नारी, माथे ऊपर लागै प्यारी।
या का अरथ जो कोई खोलै, कुत्ते की वह बोली बोलै॥'

'एक नार तरवर से उतरी मा सो जनम न पायो।
बाप का नाँव जो वासे पूछ्यो आधो नाँव बतायो॥''

—खुसरो

उस काल में खुसरो की इस प्रकार की विकसित हिन्दी में रचनाओं को देखकर सन्देह अवश्य होता है, और हम यह मान भी बैठते हैं कि उनकी इन रचनाओं में 'पृथ्वीराज रासो' की भाँति मिलावट एवं प्रक्षिप्त अंश अधिक हैं। यदि 'आशिका ऑव अमीर खुसरो' (Ashika of Amir Khusru) में उल्लिखित खुसरो की इस बात पर—

"हिन्दी भाषा को आप फारसी से घटिया नहीं पाएंगे। हाँ, अरबी भाषा के मुकाबले जो संसार की सब भाषाओं में प्रधान है, हिन्दी घटिया अवश्य है।[१]

विचार करें तो उनकी हिन्दी की परिमार्जित रचनाओं की सत्यता पर जरा भी सन्देह नहीं होता। यहाँ उक्त उद्धरण में प्रयुक्त 'हिन्दी' शब्द पर किसी को सन्देह नहीं हो सकता। खुसरो का मन्तव्य 'हिन्दी' शब्द से खड़ी और ब्रज दोनों भाषाओं

1. 'You will not find the Hindi-words—language—inferior to Parsi. It is inferior to the Arabic, which is chief of all the languages."
—Elliot & Dowson—History of India Vol. iii 1871

से है। 'हिन्दी' से उनका अर्थ न संस्कृत से है और न अपभ्रंश आदि भाषाओं से। फारसी स्वयं एक प्रौढ़ भाषा थी, जब खुसरो 'हिन्दी' को उससे घटिया नहीं बताते तो यह साफ जाहिर है कि हिन्दी बहुत-कुछ परिष्कृत हो चुकी थी। अवश्य यह हिन्दी-साहित्य का दुर्भाग्य है कि उस समय की हिन्दी की अन्य कोई भी बड़ी अथवा छोटी रचना प्राप्त नहीं होती जिससे कि खुसरो के उक्त कथन की सत्यता प्रमाणित हो। परवर्ती काल में कबीर आदि सन्तों की भाषा में खुसरो के समान जो हमें भाषा की सफाई दिखाई नहीं देती उसका प्रधान कारण यह है कि ये सन्त-कवि भाषा पण्डित न थे। इन सन्त कवियों में कितने पढ़े-लिखे भी नहीं थे। कबीर के सम्बन्ध में ही यह कहा जाता है कि उन्होंने हाथ से 'कागद और मसि' तक न छुआ था। इसलिए खुसरो की भाषा में प्रक्षिप्त अंशों की बहुत कम सम्भावना है। हिन्दी की उनकी रचनाएं अपने विकास के सही स्थल पर हैं। हम उनको बाद की रचना कहकर अपनी समस्या का हल निकाल लें यह हमारी भूल होगी।

अपभ्रंश काल की हिन्दी पर पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने 'पुरानी हिन्दी' शीर्षक एक लेख सन् १९२१ ई० में लिखकर विशेष प्रकाश डाला है। इस लेख में उन्होंने 'प्रबन्ध चिन्तामणि', 'कुमारपाल प्रतिबोध', 'कुमारपाल चरित' तथा 'हेमचन्द्र प्राकृत व्याकरण' के अपभ्रंश-पद्यों की भाषा की वैज्ञानिक व्याख्या करते हुए विक्रम की ११ वीं शताब्दी के इधर की रचनाओं को पुरानी हिन्दी माना है और उनसे हिन्दी का सम्बन्ध स्थापित किया है। पं० रामचन्द्र शुक्ल 'गुलेरी' जी के इस विचार से पूर्ण सहमत हैं। परन्तु सब विद्वान् एक मत नहीं हैं। 'ढोला-मारू रा दूहा' के सम्पादक श्री रामसिंह और श्री नरोत्तम दास स्वामी के मत में—'यह परिवर्तन-युग विक्रम की १० वीं शताब्दी से १२ वीं शताब्दी के अन्त तक माना जा सकता है, (पर) यह बात साहित्य की भाषा के लिए ही कही जा सकती है। बोलचाल की भाषा का परिवर्तन-काल तो विक्रम की ८ वीं—९ वीं शताब्दी से ही प्रारम्भ हो जाता है।' 'श्रीतगारे' ने इस काल का प्रारम्भ १२०० ई० के लगभग से माना है। सचमुच इसका निर्णय करना बड़ा कठिन है। अपभ्रंश को विकसित होकर देशभाषाओं में

परिवर्तित होने में शताब्दियाँ लगी हैं। अपभ्रंश १००० ई० के उपरान्त रुद्ध प्रवाह अवश्य हो गया था और इसीसे इसके अनन्तर उसमें जितनी रचनाएँ हुईं वे अपभ्रंशाभास कहलाईं।

अपभ्रंश-रचनाओं में ब्रजभाषा का विकास-क्रम

देखना अब यह है कि इस संक्रान्तियुग में ब्रजभाषा का किस प्रकार अपभ्रंश से पृथक अपना स्वतंत्र विकास होने लगा था। विद्वानों के मत से हिन्दी का आदि-काल अब तक प्राय: अन्धकार के आवरण से ढका हुआ है। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में 'यद्यपि हिन्दी साहित्य के इस काल की कहानी को स्पष्ट करने का प्रयत्न बहुत दिनों से किया जा रहा है तथापि उसका चेहरा अब भी अस्पष्ट है।' इधर २०-२५ वर्षों में अपभ्रंश पर काफी खोज हुई है। उसका बहुत-सा साहित्य प्रकाश में आया है। २० वीं शती के पूर्व तक तो विद्वानों में ऐसी धारणा बनी हुई थी कि अपभ्रंश-साहित्य पूरा का पूरा लुप्त हो चुका है। फिर भी हिन्दी (ब्रज व खड़ीबोली) का दुर्भाग्य इतना बड़ा है कि जिस प्रदेश की वह बोली है वहाँ के अपभ्रंश-साहित्य की अब तक एक भी पुस्तक हस्तगत न हो सकी है जिसके आधार पर उसके प्राचीन रूप को जाना जा सके। इस प्रदेश की कोई भी पुस्तक अब तक क्यों नहीं प्राप्त हुई इस पर विद्वानों के भिन्न भिन्न अनुमान हैं।

विद्वानों में एक तो यह धारणा बनी हुई है कि संस्कृत के समान पछाँह खण्ड की अपभ्रंश ही तत्कालीन काव्य-भाषा थी। इस पछाँह खण्ड में शूरसेन प्रदेश भी सम्मिलित था। यहाँ की अपभ्रंश को आधार मानकर, जिसमें अन्य प्रदेशों की तत्कालीन बोलियों के रूप मौजूद हैं, काव्य की अपभ्रंश भाषा बनी, जिसे शौरसेनी अपभ्रंश कहते हैं। 'बुद्ध-चरित्र' की भूमिका में पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—'प्राचीन आर्यभाषा की भिन्न-भिन्न स्थानों की बोलियों को थोड़ा बहुत समेटकर, पर पश्चिमोत्तर की भाषा का ढाँचा आधारवत् रखकर, जिस प्रकार संस्कृत खड़ी हुई उसी प्रकार पीछे से यह काव्यभाषा भी पछाँह की बोली (ब्रज से लेकर मारवाड़ और गुजरात तक की) का आधार रखकर, और-और बोलियों को भी थोड़ा-बहुत समेटती हुई चली और बहुत दिनों तक

केवल अपभ्रंश या भाषा ही कहलाती रही'। उस समय जैसा कि 'प्राकृत-चद्रिका' और 'प्राकृत-सर्वस्व' में देखने को मिलता है प्रादेशिक बोलियाँ थीं, किन्तु कवि लोग उसी स्टैण्डर्ड या कवि-समय-सिद्ध सामान्य भाषा (शौरसेनी अपभ्रंश) में ही रचना करते रहे। इसका प्रधान कारण राजपूत राजाओं का प्रभाव हो सकता है। इस स्टैण्डर्ड अपभ्रंश के समक्ष अन्य अपभ्रंश विभाषाओं में साहित्य उद्‌भूत न हो सका। इसीसे प्रादेशिक अपभ्रंश में आज हमें रचनाएँ उपलब्ध नहीं हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि अपभ्रंश एक ही थी। उसकी विभिन्न विभाषाएँ नहीं थीं। उसमें जो अनेक रूपता दिखलाई देती है वह केवल स्टैण्डर्ड अपभ्रंश में आए हुए स्थानीय प्रभाव हैं। तथ्य क्या है इसके वैज्ञानिक विवेचन का यह उपयुक्त स्थान नहीं है। हाँ, प्रथम मत ही अधिक युक्तिसंगत दिखलाई देता है।

दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि अपभ्रंश-काल में मध्यप्रदेश की राजनीतिक अवस्था अधिक डाँवाडोल थी। कन्नौज के सम्राट हर्षवर्धन की मृत्यु (६४७ ई०) के बाद कन्नौज का साम्राज्य, जिसके अन्तर्गत मथुरा का प्रदेश भी सम्मिलित था, कुछ काल तक हर्षवर्धन के सेनापति भण्डि और उसके वंशजों के हाथ में बना रहा। इस साम्राज्य को हस्तगत करने के लिए पूर्व के 'पाल', दक्षिण के 'राष्ट्रकूट' और पश्चिम के 'प्रतिहार' बराबर प्रयत्न करते रहे। नवीं शती के प्रारम्भ में कन्नौज पर प्रतिहारों का आधिपत्य हो गया। कुछ समय तक शान्ति बनी रही। सन् १०१७ ई० में महमूद गजनवी ने मथुरा पर हमला किया और बड़ी बर्बरता से मथुरा की कलाकृतियों को उसने बरबाद किया और नगर को लूटा। मथुरा-वृन्दावन को रौंदता हुआ उसने कन्नौज पर भी आक्रमण किया। वहाँ के राजा राज्यपाल ने बिना लड़े आत्म-समर्पण कर दिया। कन्नौज के लूटे जाने का वास्तविक अर्थ यहाँ समझा जा सकता है। उस समय ऐसी कोई भी शक्ति अवशेष न रह गई थी जिससे देश की रक्षा और शान्ति की अपेक्षा की जाती। इसी समय कन्नौज के अधीनस्थ राज्य कालिंजर (चन्देल), त्रिपुरी (कालचुरी) और अजमेर (चौहान) स्वतन्त्र हो गए। मालवा (परमार), सौराष्ट्र (चालुक्य), मेवाड़ (गुहिल) और हरियाना

(तोमर) आदि राज्यों ने भी अपनी अलग-अलग इकाइयाँ बना लीं। नित्य नये राज्यों के निर्माण, विनाश तथा पुनर्निर्माण हो रहे थे। केन्द्रीय सत्ता पूर्णतः नष्ट भ्रष्ट हो चुकी थी। चारों ओर अव्यवस्था फैली हुई थी। साम्राज्य लिप्सा को लेकर ये राज्य परस्पर लड़ रहे थे। महमूद के लौट जाने पर कालिंजर के चन्देल राजा गण्ड ने ग्वालियर के राजा की सहायता से कन्नौज के राजा राज्यपाल पर आक्रमण किया और उसको इस दोष के लिए कि उसने महमूद गजनवी को आत्मसमर्पण किया था, मार डाला। महमूद १०२२ ई० में इन राजाओं को दण्ड देने के लिए पुन: आया और इनको उसने परास्त किया। मध्यदेश को लूटता और आतंकित करता हुआ वह स्वदेश लौट गया। अब तक कन्नौज के प्रतिहारों का प्रताप-सूर्य अस्त हो चुका था। सन् १०८० ई० में गाहड़वारों ने उस पर कब्जा कर लिया। इस वंश के शक्तिशाली शासकों— गोविन्दचन्द्र, विजयपाल, जयचन्द—के समय (१०८०-११९४ ई०) में कन्नौज साम्राज्य की उन्नति हुई और मध्यदेश में थोड़े काल के लिए शान्ति की एक झलक मिली। किन्तु, ये गाहड़वार, चौहान, चन्देल, चालुक्य, पाल और सेन राजे आपस में लड़-लड़ कर अपनी शक्ति को बराबर क्षीण करते रहे। भारत के दुर्भाग्य का अन्त नहीं था। सन् ११९२ ई० में मुहम्मदगोरी ने चौहानों को और सन् ११९४ ई० में गाहड़वारों को परास्त किया। धीरे-धीरे मध्यदेश पर मुसलमानों का अधिकार हो गया। मथुरा पर इन मुसलमानों की कृपादृष्टि कभी न रही। मथुरा-वृन्दावन को ये 'बुतपरस्तों का काबा' कहा करते थे। इन लोगों ने नगरों के मंदिरों को बुरी तरह तोड़ा और उन पर मस्जिदें बनवाईं। हिन्दू अनेक प्रकार से सताए जाने लगे। जिस युग में कविता और कवि राज्याश्रय पाकर रक्षित रहते रहे हों, यदि उस काल में किसी प्रदेश विशेष की इस प्रकार की अशान्त और विक्षुब्ध अवस्था रही हो तो उस काल के साहित्य के अरक्षित होने पर बहुत कम आश्चर्य होता है।

विद्वानों का तीसरा अनुमान है कि जब मौर्यवंश के अंतिम शासक वृहद्रथ को मारकर उसका ब्राह्मण सेनापति पुष्यमित्र (ई० पूर्व १०० वर्ष) मगध-साम्राज्य का जिसमें शूरसेन प्रदेश भी सम्मिलित था राजा बना, तब भागवत धर्म का

पुनर्जागरण हुआ और एक बार फिर संस्कृत भाषा और साहित्य का उत्कर्ष बढ़ा। ब्राह्मण, विशेष रूप से पुरोहित वर्ग, ने संस्कृत को विशेष महत्व दिया। हिन्दुओं के धार्मिक जीवन और संस्कारादि की वह सम्मानित भाषा बनी। उच्च-वर्ग के लोग भी भद्र-संज्ञा-प्राप्ति के लिए बाह्य आचार-व्यवहार में संस्कृत का ही प्रयोग करने लगे। अपभ्रंश का प्रयोग घरों अथवा निम्नवर्ग में सीमित हो गया। लेखक, विद्वान्, कवि आदि ने भी पांडित्य प्रदर्शन के लिए तथा अपनी कला-कृतियों को सदैव के लिए चिरस्थाई बनाने की धुन में संस्कृत और प्राकृत के माध्यम को ही ग्रहण किया। पुष्यमित्र के ही राज्यकाल में वैयाकरण पतंजलि ने पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' पर प्रसिद्ध 'महाभाष्य' की रचना की। इस समय से लेकर ११-१२ वीं शताब्दियों तक संस्कृत में अनेक विषयों पर बृहत् साहित्य लिखा गया। 'नाट्यशास्त्र' भरत ने लगभग प्रथम शती में लिखा। काव्य और अलङ्कार शास्त्र पर अनेक रचनाएं ७ वीं और ८ वीं शताब्दियों में भामह, दण्डी और वामन ने कीं। 'काव्यमीमांसा' की राजशेखर ने ६ वीं-१० वीं शती में रचना की। वात्स्यायन का 'कामशास्त्र' ५ वीं शती के आसपास लिखा गया। ज्योतिष और गणित पर वराहमिहिर ने ६ वीं शती में, आर्यभट्ट ने ५ वीं शती में, ब्रह्मगुप्त ने ७ वीं शती में और भाष्कराचार्य ने १२ वीं शती में अनेक रचनाएं कीं। नैयायिक एवं दार्शनिक गौडपाद, कुमारिल और प्रभाकर गुप्तकाल के महान् विभूति थे। ऐतिहासिक ग्रन्थों में कल्हण की 'राजतरंगिणी' १२ वीं शती में लिखी गई। काव्य ग्रन्थ 'मेघदूत', 'ऋतुसंहार', 'रघुवंश', 'कुमार-सम्भव' कालिदास ने चौथी व पाँचवीं शती में, 'किरातार्जुनीय' भारवि ने ५ वीं शती में, 'शिशुपालबध' माघ ने ७ वीं शती में और 'गीतगोविन्द' जयदेव ने १२ वीं शती में रचे। नाट्यग्रंथ 'स्वप्नवासवदत्ता' भास ने तीसरी शती में, 'मृच्छकटिक' शुद्रक ने चौथी शती में, 'शकुन्तला', 'विक्रमोर्वशीय' और 'माल-विकाग्निमित्र' कालिदास ने चौथी या पाँचवीं शती में, 'मुद्राराक्षस' विशाखदत्त ने लगभग ६ वीं शती में, 'रत्नावली', 'नागानन्द' हर्ष ने ७ वीं शती में, तथा 'उत्तररामचरित', 'महावीरचरित', 'मालतीमाधव' भवभूति ने ८ वीं शती में लिखे। कहानी ग्रन्थ दण्डी का 'दशकुमारचरित' और बाण की 'कादम्बरी' और 'हर्ष चरित' ७ वीं शती की रचननाएं हैं। संस्कृत भाषा में ग्रन्थों का इस

प्रकार प्रणयन इस बात का साक्षी है कि उस काल में मध्यदेशीय अपभ्रंश संस्कृत भाषा और साहित्य के प्रभुत्व के नीचे अवश्य दबा रहा। तत्कालीन राज-दरबार संस्कृत को प्रोत्साहन दे रहे थे। हर्ष स्वयं संस्कृत का एक अच्छा लेखक था। पं० राहुल सांस्कृत्यायन ने 'हिन्दी काव्यधारा' में लिखा है— 'यद्यपि स्वयंभू और पुष्पदन्त जैसे (अपभ्रंश के) असाधारण कवि थे, मगर उनके लिए सामन्ती दरबारों में वह सुभीता नहीं था जो कि किसी थर्ड क्लास संस्कृत के विद्वान् का होता था।···अभी चक्रवर्ती लोग संस्कृत और थोड़ा-बहुत प्राकृत—जो कि अब मृतभाषा बन चुकी थी—पर ही ज्यादा निगाह रखते थे। शायद वह समझते थे कि देशी भाषा में गुंथी उनकी कीर्तिमाला चन्द ही दिनों में कुम्हला जाएगी, अमर कीर्ति तो संस्कृत काव्यों द्वारा ही मिल सकती है, इसलिए उन्हें अपभ्रंश कवियों की ओर ज्यादा ध्यान देने की जरूरत नहीं थी।' संस्कृत का इस काल में इतना प्राबल्य था कि इसका प्रयोग न केवल राजाओं की कीर्ति लिखने अथवा ब्राह्मण-धर्म के भीतर हो रहा था, बल्कि जैन कवियों ने अपने तीर्थंकरों की स्तुति एवं सिद्धान्तों के प्रचार के लिए भी उसी का प्रयोग किया है। संस्कृत के इसी जल-प्लावन में मध्यदेशीय अपभ्रंश साहित्य के, जो भी और जैसा भी थोड़ा-बहुत रहा हो, नष्ट होने का विद्वानों द्वारा अनुमान स्वाभाविक-सा लगता है।

चौथे, हर्ष-साम्राज्य के पतन के बाद कन्नौज (शौरसेनी-क्षेत्र) पर प्रतिहार और उसके पश्चात् गाहड़वार वंशों का शासन ९ वीं से १२ वीं शती तक रहा। ये दोनों वंश शौरसेनी-क्षेत्र के बाहर से आए हुए थे। प्रतिहार चूंकि पश्चिम से आये हुए थे इसलिए उनसे प्रादेशिक भाषा को प्रोत्साहन न मिला। वे जिस भाषा का प्रयोग करते थे उसमें राजस्थानी और गुजराती अपभ्रंशों के तत्व ही अधिक थे। इसी प्रकार गाहड़वार वंश के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि यह वंश दक्षिण भारत से आया था। इस वंश के कुछ राजाओं को छोड़कर शेष सभी संस्कृत के प्रेमी थे। इन लोगों ने संस्कृत को प्रश्रय दिया। इन्हीं सब कारणों से ऐसा प्रतीत होता है कि हिन्दी-भाषी प्रदेश का अपभ्रंश सुरक्षित न रह सका। इसलिए ब्रजभाषा के प्राचीन रूप को जानने के लिये मथुरा-क्षेत्र

के पार्श्ववर्ती प्रदेशों की तत्कालीन लभ्य साहित्य-सामग्री पर, अथवा स्टैण्डर्ड अपभ्रंश (शौरसेनी) पर जो कि उस समय कवि-समय-सिद्ध सामान्य भाषा थी, निर्भर करना पड़ता है। उस समय इस शौरसेनी का निजी भूमि-भाग था—हिन्दी क्षेत्र का पश्चिमी भाग, राजस्थान, गुजरात और मालवा।

ब्रजभाषा के विकास-क्रम को स्पष्ट करने में हेमचन्द्र की रचनाएँ, आचार्य मेरुतुंग का 'प्रबन्ध चिंतामणि', सोमप्रभसूरि का 'कुमारपाल प्रतिबोध' तथा अन्य कवियों की संग्रहीत व लिखित रचनाएँ जैसे 'प्राकृत-पैंगलम्', 'ढोला-मारू रा दूहा', सिद्धों और जैनमुनियों की रचनाएँ तथा 'रासो ग्रन्थ' मुख्य हैं।

हेमचन्द की रचनाएँ—हेमचन्द्र का समय ११ वीं शती है। गुजरात नरेश सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल इनके आश्रयदाता थे। इन्होंने 'काव्यानुशासन', 'छन्दोनुशासन', 'देशीनाममाला', 'शब्दानुशासन' आदि ग्रंथ रचे हैं। इन रचनाओं में अपभ्रंश के जो उदाहरण मिलते हैं उनमें ब्रजभाषा के बीज विद्यमान हैं। जैसे—

१—'जो जहाँ होतउ सो तहाँ होतउ, सत्तु वि मित्तु वि किहें-विहु आवहु।'

२—'अम्हारउँ तुम्हारउँ वि एहु ममत्तु न तासु।'

३—'पिअ काइं करउँ हउँ।'

४—'खग्ग-विसाहिउ जहिं लहहुँ पिय तहिं देसहिं जाहुँ।'

इन पदों में 'होतउ' (होतौ), 'करउँ' (करौं), 'विसाहिउ' (विसाहौ), 'लहहुँ' (लहौं) ब्रजभाषा की शुद्ध क्रियाएँ, 'अम्हारउँ' (हमारौ), 'तुम्हारउँ' (तुम्हारौ) हउं (हौं), 'जो' 'सो' सर्वनाम तथा 'देसहिं' में 'हिं' ब्रजभाषा का कारक चिह्न, मौजूद हैं।

प्रबन्ध-चिन्तामणि—यह संस्कृत में लिखी हुई कथा-संग्रह की एक पुस्तक है। जैन आचार्य मेरुतुङ्ग ने सन् १३०४ ई० में इसका संग्रह किया था। कथाओं में जगह-जगह पर प्रसंगवश कुछ अपभ्रंश की कविताएँ दी हुई हैं। इन कविताओं में ब्रजभाषा की झलक मिलती है—

१—'अम्मारिणओ सन्देशडओ तारय कन्ह कहिज्ज।
जग दालिद्दिहि डुब्बिउं बलिबंधणह मुहिज्ज॥'

२—'झाली तुट्टी किं न मुउ किं न हुयउ छारपुंज।
हिंडइ दोरीबंधीयउ जिम मंकड तिम मुंज॥'

३—'बाह बिछोडवि जाहि तुहुं हउं तेवँइ को दोसु।
हिअयट्ठिय जइ नीसरहि जाणउं मुंज सरोसु॥'

४—'जइ यह रावणु जाईयउ दहमुह इक्कु सरीरु।
जणणि वियम्भी चिन्तवइ कवणु पियावउ खीरु॥'

इन पदों में 'डुब्बिउं' (डूब्यो), 'हुयउ' (हुओ), 'बंधीयउ' (बंध्यो), 'जाणउं' (जानौ), 'जाईयउ' (जायौ) आदि क्रियाएँ, 'संदेसडओ' (संदेसड़ो) 'कन्ह' (कान्ह) संज्ञाएँ, 'हउं' (हौं) सर्वनाम ब्रजभाषा के हैं।

कुमारपाल प्रतिरोध—इस ग्रन्थ का नाम 'जिनधर्म प्रतिबोध' भी है। सोमप्रभसूरि ने इसकी रचना ११८४ ई० में की थी। इसमें भी अपभ्रंश के उदाहरण आए हैं जिनमें ब्रजभाषा के रूप मिलते हैं।

१—'पिय हउं थक्किय सयलु दिण तुह विरहग्गि किलंत।
थोड़इ जय जिम मच्छलिय तल्लोविल्लि रूरंत॥

'वड-रुक्खह दक्षिण-दिसिहिं जाइ विदब्भहि मग्गु।
वाम-दिसिहिं पुण कोसलहि जाह रुच्चइ तहि लग्गु॥

'हउ' (हौं) सर्वनाम, 'जाइ' क्रिया, 'हि' (को) कारक चिन्ह ब्रजभाषा के हैं।

प्राकृत-पैंगलम्—यह अपभ्रंश में लिखा हुआ ग्रन्थ है। डॉ० सुनीति-कुमार चेटर्जी इसमें संग्रहीत छन्दों का रचनाकाल सन् ६००—१४०० ई० बतलाते हैं। इन छन्दों में ब्रजभाषा के बीज-बिन्दु स्पष्ट रूप से दिखाई देते हैं—

"जा अद्धंगे पव्वई तीसे गंगा जासु"

"गई भवित्ती किल का हमारी"

"जह-जह बलआ बढ़इ हइ तह-तह णाय कुणेह"

'पिगलें कहिओ'

'नअण झंपियो'

'कासीसर राणा किअउ पआण'

'जा' 'जासु' 'हमारी' सर्वनाम, 'बढ़इ हइ' (बढ़े है), 'कहिओ' (कह्यो) 'झंपियो' (झंप्यो), 'किअउ' (कियो) क्रियाएं ब्रजभाषा की हैं।

ढोला-मारू रा दूहा—यह राजस्थान का एक प्राचीन जन-प्रिय लोक-काव्य है। इस काव्य के लोक-गीतों की परम्परा में सुरक्षित रहने के कारण इसकी भाषा बहुत प्राचीन नहीं कही जा सकती। फिर भी इसका रचना-काल विद्वानों ने १३९३ ई० के लगभग माना है। 'ढोला-मारू रा दूहा' की भाषा ब्रजभाषा के बहुत निकट है। अपभ्रंश काल में राजस्थानी और ब्रजभाषा का निकट का सम्बन्ध था। इसके पूरे के पूरे दोहे ब्रजभाषा में लिखे हैं—

"प्रीतम, तोरइ कारणइ ताता भात न खाहि।
हियड़ा भीतर प्रिय बसइ, दाझणती डरपाहि॥"

४

"ढाढी, एक सँदेसड़उ कहि ढोला समझाइ।
जोबरा-आँबउ फलि रह्यउ, साख न खाअउ आइ।"

सिद्धों की रचनाएँ—सिद्धों का सम्बन्ध पूर्वी भारत से अधिक होने से इनकी भाषा पूर्वी हिन्दी के अधिक निकट है। कहीं-कहीं ब्रजभाषा के रूप भी देखे जाते हैं—

'झाण-हीण पब्बज्जे रहिअउ,
घरहिं वसन्ते भज्जे सहिअउ।'
—सरहपा

'लोअह गब्ब समुब्बहइ, हँउ परमत्थ पवीण
कोडिअ-मञ्झे एक्कुजइ, होइ णिरंजण लीन।'
—कण्हपा

यहाँ 'रहिअउ' 'सहिअउ' (रह्यो, सह्यो), 'हउँ' (हौं) आदि शब्द ब्रज-भाषा के हैं।

जैनमुनियों की रचनाएँ—जैन मुनियों और साधुओं का निवास स्थान प्रधानतः भारत का पश्चिमी भाग था; इसलिए उनकी रचनाओं में ब्रज-भाषा के रूप अधिक हैं—

'सो सिवसंकरु विण्हु सो, रुद्दवि सो बुद्ध।
सो जिणु ईसरु बंभु सो, सो अणंतु सो सिद्ध॥'
—योगीन्द्र

'ता पेसिय किंकर वर-णिवेण।
अवलोयहु सामिणि दिसिवहेण॥'
—कनकामरमुनि

'अवलोयहु' (अवलोकहु) 'सो' आदि ब्रजभाषा की क्रमशः क्रिया और सर्वनाम हैं।

रासोग्रन्थ—रासो ग्रन्थों में मुख्य हैं—'खुमाण रासो', 'बीसलदेव रासो', 'पृथ्वीराज रासो', 'परमाल रासो' तथा 'हम्मीर रासो'। इनमें 'खुमाण रासो' और 'बीसलदेव रासो' पर राजस्थानी का प्रधान्य है। 'परमाल रासो' गीत-काव्य होने से उसकी भाषा में बराबर रूपान्तर होता रहा। जिस रूप में वह आज प्राप्त है, उसमें भाषा के मूल रूप का पता नहीं चलता। 'हम्मीर रासो', 'पृथ्वीराज रासो' और 'विजयपाल रासो' में ब्रजभाषा के प्राचीन रूप मिलते हैं। 'पृथ्वीराज रासो' और 'विजयपाल रासो' तो ब्रजभाषा अथवा पिंगल की ही रचनाएँ कही जा सकती हैं। इन ग्रन्थों की जो प्रतियाँ प्राप्त हैं वे सन् १७०० व १८०० ई० की ही रचनाएँ मानी जाती हैं। पर कहीं कहीं इन ग्रन्थों में भाषा का प्राचीन रूप भी मौजूद है जिसमें ब्रजभाषा अपभ्रंश से किस भाँति रूपान्तरित हो रही थी स्पष्ट दिखाई देता है। जैसे—

'उड़ि चल्यो अप्प कासी समग्ग,
आयो सु गंग तट कज्ज जग्ग।'
—पृथ्वीराज रासो

'बैठतैं पाट विजयपाल वीर,
अल्लीलखाँ जीत्यौ गहीर।'
—विजयपाल रासो

इन पदों में 'चल्यो', 'आयो', 'जीत्यौ' ब्रजभाषा की क्रियाएँ हैं।

ब्रजभाषा इस प्रकार शनैः-शनैः अपना स्थान अपभ्रंश की रचनाओं में बनाने लग गई थी। १४ वीं शती के उपरान्त तो अपभ्रंश परिवर्तित होकर हिन्दी भाषा में परिणत हो गई। उस समय की इस हिन्दी में ब्रज, अवधी, खड़ी, पंजाबी, राजस्थानी आदि सभी भाषाओं का मिला-जुला रूप ही सामने

आया। मिली-जुली भाषा की यह परम्परा सन्तों की बानियों में १५वीं शती तक पाई जाती है। संतों की इस भाषा को आचार्य शुक्ल ने 'सधुक्कड़ी' भाषा कहा है। संतों की रचनाओं में ब्रजभाषा का प्रभाव कम नहीं है। जैसे—

'हंस देह तजि न्यारा होई, ताकी जाति कहौं धू कोई।
स्वेत स्याम की राता पियरा, अवर्ण, वर्ण की ताता सियरा॥
हिंदू तुरक की बूढ़ा बारा, नारि पुरुष मिलि करहु विचारा।
कहिये कहि कहा नहिं माना, दास कबीर सोई पै जाना॥'

—कबीर

'कहि रविदास भगति इक बाढ़ी अब इह का सिउ कहिअै।
जा कारनि हम तुम आराधे, सो दुष अजहूँ सहिअै॥'

—रैदास

'जिनैक परै धनु वसै तिनको नाउँ फकीर।
जिनैक हिरदै तू वसै तै नर गुणी गहीर॥'

—नानक

इधर विद्वानों की खोज में ब्रजभाषा की कुछ प्राचीन पुस्तकों का भी पता चला है। इनमें सधारकृत प्रद्युम्नचरित [1] (१३५४ ई०) और कवि जाखू (जाखू) कृत हरिचन्द पुराण [2] (१३९६ ई०) मुख्य हैं। इनमें ब्रजभाषा का स्वरूप इस प्रकार हैं—

'सारद विणु मति कवितु न होइ, मकु आषर णवि बुझइ कोइ।
सो सादर पणमई सुरसती, तिन्हि कहुँ बुधि होइ कत हुती॥

१—खोज रिपोर्ट (ना० प्र० सभा, काशी) १९२३-२५ ई०
२—वही १९०० ई०

सबु कोइ सारद सारद कहई, तिसु कउ अन्त कोउ नहिं लहई ।
अठ दल कमल सरोवर वासु, कासमीर पुर मांहि निवास ।।
हंस चढ़ी करि लेखनि लेइ, कवि सधार सारद पणमइ ।
सेत वस्त्र पदमावतीण, करइ अलावणि बाजइ बीण ।।'
—प्रद्युम्न चरित

"सूरिजवंस राज सपवित्त, धन हरिचन्द न मेल्हो चित्त ।
सुणो भाव धरि जाषू कहै, नासै पाप न पीडो रहै ।।"
—हरिचन्द पुराण

अफगानों का शासन-काल और ब्रजभाषा

जब ब्रजभाषा तथा अन्य आधुनिक आर्य भाषाएं अपना स्थान साहित्य में ले रही थीं; तभी देश में एक असाधारण घटना घटी । भारत एक विदेशी और विधर्मी जाति (मुसलमानों) से सन् ११९२ ई० में परास्त हुआ ।[१] मुसलमान अपनी संस्कृति और धर्म को अलग बनाए हुए राज करने लगे । मुसलमानों के इस आक्रमण के पूर्व भारत पर अन्य विदेशी लोगों के भी आक्रमण हुए थे । वे आक्रान्ता जैसे यूनानी, सीथियन, मंगोलियन, शक, पार्थियन, हूण आदि हिन्दू समाज के अङ्ग बन गए थे । उनकी भाषा और संस्कृति का पूर्ण विलय भारतीय भाषा और संस्कृति में हो चुका था । पर मुसलमान अपने को हिन्दू-संस्कृति और धर्म में न रँग सके । इसका परिणाम यह हुआ कि दो विभिन्न संस्कृतियों का पारस्परिक संघर्ष और हेल-मेल प्रारम्भ हो गया । देश की तत्का-लीन बोलचाल की भाषा पर इस राजनीतिक परिवर्तन का प्रभाव अच्छा पड़ा ।

---

१ **पृथ्वीराज चौहान तराइन के मैदान में मुहम्मदगोरी से परास्त हुए ।**

अब तक देशी विद्वान्, व्यवहार अथवा साहित्य में, विगत काल की भाषाओं जैसे संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का प्रयोग पांडित्य प्रदर्शन के लिए करते जा रहे थे। आधुनिक आर्य भाषाएँ जो विकसित हो रही थीं उधर उनका ध्यान न था। विदेशी शासक एवं विद्वानों को उस विगत काल की भारतीय भाषाओं से कोई मोह न था। उनसे तत्कालीन बोलचाल की भाषा को ही प्रोत्साहन मिला जो आधुनिक आर्यभाषाओं की प्रगति में सहायक सिद्ध हुआ।

इन मुसलमान सुल्तानों की राजधानी दिल्ली होने से दिल्ली-मेरठी बोली (खड़ीबोली) का विकास तेजी से होने लगा। यों इन सुल्तानों के राज-कार्य की भाषा फारसी थी, पर वे स्थानीय बोलचाल की भाषा की उपेक्षा न कर सके। अनेक तुर्क और अफगान मुसलमानों ने उसको अपनाया और उसमें रचनाएं कीं। इस सम्बन्ध में अमीर खुसरो का नाम विशेष उल्लेखनीय है। इन मुसलमानों के प्रभाव से ही खड़ी-बोली की एक शैली आगे चलकर 'उर्दू' नाम से अभिहित हुए।

जिस प्रकार यह राजनीतिक परिवर्तन खड़ीबोली को आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध हुआ, ठीक उसी प्रकार हिन्दू-मुस्लिम इन दो संस्कृतियों और धर्मों के आपसी सम्पर्क का परिणाम यह हुआ कि हिन्दू समाज के भीतर एक नवीन धार्मिक जागृति आई, जिसने ब्रजभाषा को महत्व दिया। अफगान सुल्तानों के फौजी एवं कठोर शासन के सामने भारत राजनीतिक दृष्टि से घुटने अवश्य टेक गया था और पदाक्रान्त था; पर उनकी वह बर्बरता भी, जो हिन्दुओं को धर्म-परिवर्तन के लिये बाध्य कर रही थी, मन्दिर की जगह मस्जिद निर्माण करा रही थी, तथा जो हिन्दुओं को आर्थिक संकट में डाल रखी थी, हिन्दू धर्म और संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट न कर सकी। हिन्दू लोग सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से बहुत ऊंचे थे। उनमें हीनभाव पैदा करने के लिए उन पर 'जजिया' कर लगाया गया। वे उच्च पदों से वंचित कर दिये गए। अलाउद्दीन के समय में तो न वे सुन्दर वस्त्र पहन सकते थे, न पान खा सकते थे और न घोड़े की

सवारी कर सकते थे। 'बरानी' ने लिखा है कि हिन्दुओं की दशा इतनी दयनीय हो गई थी कि वे सिर उठाकर नहीं चल सकते थे, और उनके घरों में सोने-चाँदी या सिक्के का नाम भी शेष नहीं बचा था। इस प्रकार सामाजिक मान-मर्दन होने पर हिन्दुओं में स्वाभिमान और आत्मगौरव के भाव नष्ट नहीं हुए थे। इस हीन दशा में भी वे अपने धर्म और संस्कृति पर दृढ़ रहे। यदि कोई हिन्दू इस्लाम ग्रहण करता था तो उसके लिये सांसारिक सुख के सभी दरवाजे खुल जाते थे। पर, इस प्रकार का प्रलोभन भी उनको उस समय अपने धर्म से विचलित करने में समर्थ न हो सका। इस्लाम जिस प्रकार ईरान, मिश्र आदि देशों की सभ्यता और धर्म को आत्मसात कर गया था, वैसा यहाँ न कर पाया। प्रधान कारण इसका यही था कि हिन्दू धर्म में जीवनशक्ति, कल्पना और चिन्तन के बिल्कुल अभाव न थे। उस समय वह ह्रासोन्मुख अवश्य था, किन्तु एक विरोधी धर्म का धक्का लगते ही उसमें एक नवीन चेतना उत्पन्न हो गई और उसने उसको सबल बना दिया। सुधारवादी धार्मिक आन्दोलन की एक लहर-सी देश में फैल गई। वैष्णव भक्ति के प्रचारकों—महाप्रभु चैतन्य, श्री रामानन्द, सन्त कबीर, श्री बल्लभाचार्य, भक्त नरसी मेहता आदि ने हिन्दुओं के हृदय में एक नवीन भाव और शक्ति भर दी। इन धार्मिक सुधारकों, मुस्लिम पीरों आदि ने अपने उपदेश एवं सिद्धान्त को जनता तक पहुँचाने के लिये उन्हीं की बोल-चाल की भाषा को ग्रहण किया। राधाकृष्ण के भक्तों ने ब्रजभाषा में ही अपने भजन व गीत गाए।

१५ वीं सदी के उपरान्त हिन्दी की तीन प्रधान बोलियाँ—खड़ी, अवधी, और ब्रजभाषा उभरकर स्पष्ट रूप से सामने आईं। उनमें साहित्य-सृजन होने लगा। मध्ययुग की धार्मिक परिस्थिति ब्रजभाषा के अधिक अनुकूल होने से उसके प्रचार और प्रसार में विशेष सहायता मिली। १६ वीं सदी के मध्य तक ब्रजभाषा ने एक अच्छा सुव्यवस्थित रूप धारण कर लिया और वह हिन्दी साहित्य की प्रधान भाषा बन गई। उसके इस उत्थान की चर्चा अगले अध्याय का विषय है।

ब्रजभाषा-गद्य

ब्रजभाषा का प्रयोग पद्य के अतिरिक्त गद्य में इस आलोच्य काल में नहीं मिलता। आगे चलकर भी उसमें गद्य-साहित्य उतना नहीं प्राप्त होता जितना कि पद्य का। प्रधान कारण इसका यह है कि हमारे प्राचीन साहित्य—संस्कृत, प्राकृत, तथा अपभ्रंश में भी पद्य के ग्रहण का आधिक्य और गद्य के ग्रहण की विरलता सर्वत्र पाई जाती है। गद्य में साहित्य-निर्माण की अच्छी परम्परा ब्रज-भाषा को प्राप्त न होने से उसमें सदैव गद्य-साहित्य का अभाव ही रहा।

अध्याय ३

ब्रजभाषा का उत्कर्ष काल

सन् १५०० ई० से १८०० ई० तक

(क) भक्ति-काल : सन् १५००–१७०० ई०

श्रीकृष्ण-चरित और ब्रजभाषा

ब्रजभाषा के उत्थान और उत्कर्ष का काल सन् १५०० ई० से लेकर सन् १८०० ई० तक है। इस काल में श्रीकृष्ण-चरित को लेकर लोकोत्तर काव्यरस की जो अखण्ड मन्दाकिनी हिन्दी-साहित्य में प्रवाहित हुई उसने ब्रजभाषा को खूब गौरवान्वित किया है।

संसार की प्रत्येक जाति में वीर-पूजा (Hero worship) की प्रथा बहुत पहले से मौजूद है। दुनियाँ की प्रायः प्रत्येक भाषा में, जिसका कि अपना साहित्य है, वीर गाथाओं पर रचनाएँ पाई जाती हैं। हिन्दी-साहित्य में भी श्रीकृष्ण और श्रीराम के व्यक्तित्व के सहारे अपूर्व काव्य की रचना हुई है। इनमें भी श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व की एक विलक्षण और सर्वतोमुखी छाप हमारे जीवन, साहित्य, संगीत आदि पर देखकर आश्चर्य होता है। भक्तिकाल और रीतिकाल की हमारी मानसिक भावनाएँ प्रधानतः श्रीकृष्ण की ही परिक्रमा करती रही हैं। एक ओर, श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व ने जहाँ भक्त कवियों को ब्रह्मानन्द का अनुभव कराने की प्रेरणा दी है, वहाँ दूसरी ओर उसने रीतिकाल के सांसारिक कवियों को उसे सफल नायक के रूप में ग्रहण करने का भी अवसर प्रदान किया है। श्रीकृष्ण भक्त कवियों के लिये अचिन्त्य अविनाशी ब्रह्म के साक्षात् सगुण रूप हैं। भक्तिकाल की ब्रजभाषा की कविता उन्हीं के अखण्ड लीला-गान की प्रतिमूर्ति है। श्रीराम की भाँति वे मर्यादापुरुषोत्तम न थे। वे लीलाधारी थे। माँ यशोदा और बाबा नन्द के छैया, ग्वालों के भैया से लेकर गोपियों के साथ 'थैया-थैया' के नचैया भी थे। आजतक भारत में किसी ऐसे दूसरे चरित्र का आविर्भाव नहीं हुआ जहाँ हम ज्ञान, कर्म, भक्ति, साहित्य, सङ्गीत आदि सब कुछ एकत्र पा सकें। भारतीय सङ्गीत तो कदाचित कृष्ण-चरित्र एवं उनकी लीलाओं के सहारे ही आज तक जीवित है। श्रीकृष्ण का महान् चरित्र संस्कृत में सुरक्षित अवश्य है, किन्तु हमारे हिन्दी-साहित्य में उसका साक्षात्कार ब्रजभाषा के द्वारा ही होता है। इसी महान चरित-नायक के व्यक्तित्व को पाकर ब्रजभाषा धन्य हुई है, और उसमें साहित्य का प्रभूत निर्माण हुआ है।

भक्ति-परम्परा

भगवान के रूप और गुण में आसक्ति का होना ही भक्ति है। भक्ति परम-प्रेम-रूपा है। नारद ने भक्तिसूत्र में भक्ति को परमप्रेम-स्वरूप तथा शांडिल्य ने उसे ईश्वरोन्मुख अनुराग बताया है। भक्ति में भाव की प्रधानता होती है। भक्त सच्चे भाव, प्रेम, और श्रद्धा के द्वारा ही ईश्वर की प्राप्ति करता है। हिन्दू-

धर्म में ईश्वर प्राप्ति का यह एक सुगम मार्ग प्रतिपादित किया गया है। ब्रज-भाषा के उत्थानकाल में भक्ति द्वारा ईश्वरोपासना का यह मार्ग नवीन न था। वैदिक काल में ही विष्णु सब देवताओं में श्रेष्ठ मान लिये गए थे—'विष्णु: परमस्तदंतरेण सर्वा अन्या: देवता' (ऐतरेय ब्राह्म०)। महाभारत काल में भी विष्णुभक्ति की पद्धति थी। महाभारत के नारायणीय खण्ड में भीष्मपितामह ने तत्कालीन प्रधान पाँच मतों—साङ्ख्य, योग, पाञ्चरात्र, वेद, और पाशुपत की चर्चा की है—

'साङ्ख्यम् योग: पाञ्चरात्रम् वेदा: पाशुपतम् तथा।
ज्ञानान्येतानि राजर्षे विद्धि मतानि वै॥'

म० भा० शान्तिपर्व ३४९ वाँ अध्याय

इनमें 'पाञ्चरात्र' मत वैष्णव भक्ति का प्रतिपादक था। इस मत की असली नींव भगवद्गीता ने डाली थी; और यह बात सर्वमान्य हुई थी कि विष्णु ही, जो विश्वरूप जगत के नियामक हैं, श्रीकृष्ण-रूप में अवतरित हुए हैं। भारतीय धर्मसाधना में विष्णु का विशेष महत्व होने से यही परम्परा वस्तुतः आज तक अक्षुण्ण बनी हुई है। पीछे से प्रचलित वैष्णव सम्प्रदाय इसी पाञ्च-रात्र एवं भागवत्-धर्म के नए संस्करण हैं।

जब देश में बौद्ध और जैन धर्मों का ज़ोर था तब भी यहाँ वैष्णव धर्म का प्रचार था। चन्द्रगुप्त मौर्य (ई० पूर्व ३२५-२९८) के दरबार में मेगस्थनीज़ नामक यूनानी राजदूत सिल्यूकस का भेजा हुआ आया था। मेगस्थनीज़ ने तत्का-लीन भारत की दशा की चर्चा की है। उसने शूरसेन प्रदेश का विवरण देते हुए लिखा है कि 'शौरसेनाइ (शूरसेन प्रदेश के) लोग हेराक्लीज (हरिकृष्ण) को बहुत आदर की दृष्टि से देखते हैं।' मौर्यवंश के बाद मगध साम्राज्य पर शुंगवंश का आधिपत्य हुआ और इस वंश का शासन काल ई० पूर्व १८५ से ई० पूर्व १०० तक रहा। शूरसेन प्रदेश इनके साम्राज्य के अन्तर्गत था। ये शुंगवंशी शासक भी भागवत धर्म के मानने वाले थे। शुंगवंशी राजा काशी-

पुत्र भागभद्र के दरबार में तक्षशिला के यूनानी राजा 'एन्टिअलकाइडस' का राजदूत 'हेलिओडोरस' रहता था जो भागवत धर्म का अनुयायी था। इसने विदिशा नगरी (भिलसा, मध्यभारत) के बेसनगर नामक स्थान पर वासुदेव कृष्ण का गरुड़ध्वज स्तंभ बनवाया था जिस पर उसने अपने आपको स्पष्टतया 'भागवत' लिखा था। अधिकांश गुप्त-सम्राट (३२० ई० से ५०० ई०) भी वैष्णव धर्मानुयायी थे और अपने को परम भागवत कहा करते थे। कन्नौज के प्रतिहार शासक (सन् ८१०-१०८० ई०) वैष्णव या शैव थे। गाहड़वारवंश का गोविन्दचन्द, जो सन् १११२-११५५ ई० तक कन्नौज की गद्दी पर रहा, वैष्णव था। इन सब ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भक्ति की परम्परा, जिसका सुस्पष्ट प्रमाण गीता के समय से मिलता है, उत्तरी भारत में मुसलमानों का शासन स्थापित होने के बहुत पहले से कायम थी। उसका प्रस्तार वहाँ तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक अव्यवस्था के कारण अधिक न हो सका।

शक्तिशाली मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद से उत्तरी भारत में बड़े-बड़े सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिवर्तन होते रहे। वाह्य आक्रमणों से देश में अशान्ति का वातावरण उत्पन्न हो गया था। मौर्यों के बाद शुङ्गवंश के शासन काल (ई० पू० १८५—ई० पू० १००) में यूनानियों के आक्रमण का देश के भीतर दूरस्थ स्थानों जैसे पंचाल, मथुरा, और पटना तक पहुँचने का विवरण मिलता है। लगभग ई० पूर्व १०० के विदेशी शकों और कुषाणों का प्रबल झंझावात देश पर आया और उसने भारत के उत्तर-पश्चिमी एक बड़े भूभाग पर अधिकार कर लिया। इनका शासन लगभग ३०० वर्षों तक कायम रहा। स्कन्दगुप्त (सन् ४५५-४६७ ई०) गुप्तवंश का अन्तिम प्रतापी एवं योग्य शासक था। इसके बाद बर्बर हूणों के जो आक्रमण परवर्ती गुप्त शासकों के समय में उत्तरी भारत पर हुए उसे वे रोक न सके। सन् ५०० ई० के लगभग पश्चिमी भारत पर उनका अधिकार हो गया जो लगभग सन् ५३३ ई० तक कायम रहा। हूणों ने तक्षशिला, मथुरा आदि नगरों को बुरी तरह नष्ट-भ्रष्ट किया। मूर्तियों और मंदिरों को तोड़ा और इमारतों को

जलाया और बरबाद किया। सन् ७१२ ई० में अरबों ने सिन्ध पर आक्रमण किया। वहाँ के राजा दाहिर को परास्त कर उन लोगों ने उस पर अधिकार कर लिया। ११ वीं शती के आरम्भ में महमूद गजनवी के आक्रमण देश पर होने लगे थे। इसने १७ बार देश को लूटा। इसने मन्दिरों को तोड़ा, नगरों को जलाया तथा नगरवासियों का बध किया। सन् ११९२ ई० में शिहाबुद्दीन गोरी ने तराइन के मैदान में दिल्ली के राजा पृथ्वीराज को परास्त कर देश में मुसलमानी सल्तनत की नींव डाली। थोड़े ही समय में उत्तरी भारत मुसलमानी सत्ता के अधीन हो गया। मुसलमानों का यह शासनाधिकार देश पर बहुत समय तक कायम रहा। अफगान सुल्तानों का शासन-काल (१२०६–१५२६ ई०) हिन्दुओं के लिए सुख-शान्ति का नहीं था। तीन सौ वर्षों के भीतर अफगान सुल्तानों के अनेक वंशों ने—गुलामवंश (१२०६–९० ई०), खिलजीवंश (१२९०–१३२०), तुगलगवंश (१३२०-१४१३ ई०), सैयदवंश (१४१३-५१ ई०) तथा लोदी वंश (१४५१-१५२६ ई०)—राज किए। एक के बाद दूसरा राजवंश आया और अल्पकाल शासन करके विलुप्त हो गया। जब कोई निर्बल सुल्तान सिंहासनारूढ़ होता था तो उसके साम्राज्य में सर्वत्र विद्रोह आरम्भ हो जाते थे। हिन्दू राजे तथा प्रान्तीय अफगान सुल्तान स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लेते थे। इसके विपरीत यदि कोई पराक्रमी सुल्तान आता था तो वह छिन्न-भिन्न हुए साम्राज्य को जीतने की कोशिश करता था। इस प्रकार विद्रोह, युद्ध, विजय, पराजय तथा पुन: विद्रोह का क्रम चलता रहता था। इन सुल्तानों की स्वयं की अपनी स्थिति स्थाई एवं दृढ़ नहीं थी। कौन कब अपने सरदारों तथा उत्तराधिकारी द्वारा राज्यच्युत कर दिया जाए अथवा कत्ल कर दिया जाए इसकी चिन्ता उनको सदैव सताती रहती थी। दिल्ली के सिंहासन पर वही आरूढ़ हो सकता था और कुछ काल तक राज कर सकता था जिसमें इतनी वैयक्तिक शक्ति और सामर्थ्य होती कि वह दृढ़ता पूर्वक सैन्य-बल को काबू में रख सकता था। इसके अतिरिक्त ये सुल्तान पूर्णतया स्वेच्छाचारी व निरंकुश थे। इनकी इच्छा ही कानून मानी जाती थी। हिन्दुओं के साथ इनके व्यवहार सद्भावनापूर्ण न थे। इन्हीं सब कारणों से अफगान सुल्तान देश में एकता और शान्ति कायम रखने में सदैव असमर्थ रहे। भारत-

वर्ष के इतिहास में यह काल अराजकता और अशान्ति का था।

उपर्युक्त विवरण से हमें दो बातें स्पष्ट होती हैं। एक तो यह कि मौर्य-साम्राज्य के पतन के बाद से लेकर मुगल-साम्राज्य स्थापित होने तक उत्तरी भारत की राजनीतिक स्थिति, यदि अपवाद स्वरूप चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (सन् ३७६-४१३ ई०) और हर्षवर्धन (६०६-४७ ई०) के समय को छोड़ दें तो, पूर्ण अव्यवस्था की थी। इस काल के राजागण आपस में लड़ते तो थे ही, वे बाहर के लुटेरों से भी देश की रक्षा न कर पाते थे। इससे उत्तरी भारत की जनता में बराबर घबड़ाहट और अशान्ति बनी रहती थी। दूसरे, यूनानी, शक, हूँण आदि बाहर से आने वाली जातियों के कारण उत्तरी भारत के हिन्दुओं में विदेशी तत्व मिलने लगा था। शुद्ध हिन्दुत्व का ह्रास हो रहा था। इसीसे उत्तरी भारत में भक्ति-धर्म की उन्नति नहीं हो रही थी।

इसके विपरीत दक्षिणी भारत का वातावरण धार्मिक भावना के इतना प्रतिकूल न था। वहाँ भक्ति समुन्नत अवस्था में थी। भागवत पुराण में जिसके रचना काल का अनुमान ८-६ वीं शती लगाया जाता है 'भक्ति' कहती है—

'उत्पन्ना द्राविड़े चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता।
स्थिता किंचन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतांगता॥'

खोज सम्बन्धी लेखों से पौराणिकों के इस उक्त कथन की पुष्टि भी हुई है। कृष्णास्वामी एंगर ने 'Early History of Vaisnavism in South' में लिखा है कि वैष्णवधर्म ईसवी सन् १०० से पहले ही दक्षिण में मदुरा तक पहुँच गया था। चोल मण्डल (कारोमण्डल) तट पर बेंगी के पल्लवों के शिलालेखों से पता चलता है कि चौथी-पाँचवी शती के पल्लव राजाओं में भी भागवत धर्म का सम्मान था। गुजरात के बल्लभियों के सम्बन्ध में भी यही बात कही जाती है कि वे वैष्णव थे। सन् ६४० ई० में जब चीनी यात्री ह्यु एनसांग कांजीवरम पहुँचा तो उसने देखा कि उस समय बौद्ध तथा जैन धर्म पतनावस्था को पहुँच रहे हैं और उनके स्थान पर शैव व वैष्णवधर्म अपना सिर ऊँचा उठा रहे हैं।

आलवार सन्त

यह भागवत धर्म जिसे नारायणी, सात्त्वत, ऐकान्तिक अथवा पांचरात्र धर्म भी कहते हैं, और जिसका प्रवर्तन उत्तरी भारत में बदरिकाश्रम में हुआ था, दक्षिण भारत में कब पहुँचा आज यह ठीक ज्ञात नहीं है। पर, तामिल देश में दूसरी से नवीं शताब्दी तक के आलवार सन्त भागवत धर्मावलम्बी थे और इनके बीच भक्ति खूब पनपती रही। 'आलवार' का अर्थ है आत्मज्ञान समुद्र में गोता लगाने वाले व्यक्ति। विशिष्ट आलवार सन्तों की संख्या बारह है। प्रधान रूप से इनका समय पल्लवों का राज्य-काल है। ७ वीं से ९वीं शती के प्रारम्भिक वर्षों के बीच तामिल देश के विभिन्न स्थानों में ये पैदा हुए। इन आलवार सन्तों में निम्न जातियों से आए हुए सन्त भी सम्मिलित थे। तिरुप्पन आलवार उरैयूर (त्रिचना पल्ली) में पानन परिवार (उस समय की एक अछूत जाति) में जन्मे थे। तिरुमंगै आलवार चोलदेश के कल्लर जाति और नम्मालवार तिरुनगरी के एक वेल्लाला परिवार में उत्पन्न हुए थे। इन आलवार सन्तों में आण्डाल नाम की एक स्त्री भी थी। इनमें उच्चकुल से आए हुए सन्त भी थे। कुलशेखर आलवार मालाबार का एक राजा था। तोण्डरिप्पोडि आलवार ब्राह्मण थे। इससे यह प्रकट होता है कि इन वैष्णव सन्तों ने ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में जाति अथवा लिंग सम्बन्धी विभिन्नता को महत्व नहीं दिया है। ये आलवार कवि भी थे। इन लोगों ने अपने हृदय के स्वाभाविक उद्‌गारों को सीधी-सादी तामिल भाषा में प्रकट किया है। इन वैष्णव भक्तों के चार हजार पदों का एक वृहत् संग्रह चार भागों में जिसके प्रत्येक भाग में एक हजार पद हैं श्री नाथमुनि आलवार ने १०वीं सदी में तैयार किया। इस संग्रह का नाम 'प्रबन्धम्' है और वैष्णवों में इसका आदर वेदतुल्य है। वैष्णवों का विश्वास है कि विष्णु भगवान के अस्त्र-शस्त्र, आभूषण, वाहन आदि ने इन आलवार भक्तों के रूप में अवतार लिए हैं। इसीसे विष्णु के साथ इन आलवारों की भी पूजा आरम्भ हो गई। इनकी मूर्तियाँ दक्षिण के मन्दिरों में स्थापित हैं। आलवारों द्वारा स्थापित सबसे पुराने मन्दिर श्रीरंगम्, तिरुपति (बालाक्षी) और कुनूम (कल्ल अलगर) के हैं।

आलवार तार्किक व दार्शनिक न थे। इनके सिद्धान्त में प्रधानता भक्ति-भावना की थी। अपने इष्टदेव विष्णु के प्रति इनकी अटूट श्रद्धा थी। विष्णु ही इनके एक देव थे। उन्हीं की ये ऐकान्तिक प्रेमोपासना करते थे। जीव को मोक्ष केवल विष्णु की कृपा से, जब वह अन्य किसी भी शक्ति एवं सहारे का भरोसा न रख उनकी शरण में जाकर आत्मसमर्पण कर देता है, प्राप्त होती है। जैसा कि ब्राह्मणों ने वेद और शास्त्रिक ज्ञान से ब्राह्मणेतरों को अलग कर रखा था, वैसा इन लोगों ने नहीं किया। जाति विभिन्नता एवं लिंग-भेद को इन लोगों ने स्वीकार नहीं किया है। इन आलवार भक्तों ने ६ वीं शती के पूर्व से ही शरणागति, आत्मसमर्पण और एकान्तनिष्ठा द्वारा ईश्वर तक पहुँचने का दरवाजा सबके लिए खुला रखा। यही इनके सिद्धान्त की सबसे बड़ी विशेषता थी। उनकी राय में भगवान की भक्ति की प्राप्ति व अप्राप्ति ही मनुष्य को ऊँच या नीच बना सकती है।

वैष्णव आचार्य

इस भक्ति-परम्परा के इतिहास में वैष्णव धर्म का दूसरा उत्थान वैष्णव आचार्यों से प्रारम्भ होता है। ये आचार्य भी दक्षिण भारत के रहने वाले थे और आलवार-भक्ति-साधना के प्रतिपादक थे। इनमें और आलवार सन्तों में अन्तर यह है कि ये चिन्तक और दार्शनिक थे। इन लोगों ने वेदान्त और उपनिषद् आदि ग्रन्थों में प्रतिपादित ज्ञान और कर्म का अपूर्व ढंग से 'प्रबन्धम्' की भक्ति के साथ सामंजस्य स्थापित किया। उन्होंने बताया कि भक्ति की शिक्षा न केवल 'प्रबन्धम्' से बल्कि उपनिषद् आदि ग्रन्थों से भी मिलती है। इसीसे इन लोगों ने अपने सिद्धान्त में भक्ति को कर्म और ज्ञान से भी संयुक्त किया। वेदान्त के ब्रह्म को ईश्वर की उपाधि देकर इन्होंने उसे कृपालु और मोक्षदाता बताया जो समय-समय पर भक्तों के उद्धार के लिए अथवा धर्म की रक्षा के लिए अवतार भी लेता है। इन लोगों ने आलवार सन्तों की जाति-पाँति के बन्धन को भक्ति-साधना में ढीला तो उसी प्रकार रखा, किन्तु उसे प्राचीन वर्णाश्रम धर्म के साथ बड़ी होशियारी से समन्वित किया। ज्ञान, कर्म और भक्ति की

साधना का अधिकारी केवल उच्चवर्ण को उन लोगों ने बतलाया; पर प्रपत्ति (शरणागति) के द्वारा ईश्वर प्राप्ति का द्वार सबके लिए खोल दिया । इस प्रकार इन आचार्यों ने ब्राह्मणधर्म की मर्यादा की अवहेलना न करते हुए भक्ति को जनप्रिय बनाया और इसका खूब प्रचार किया ।

इन वैष्णव आचार्यों के चार मुख्य सम्प्रदाय हैं—(१) श्री वैष्णव सम्प्रदाय, (२) श्री माध्व सम्प्रदाय, (३) श्री रुद्र सम्प्रदाय, और (४) श्री सनक सम्प्रदाय । श्री वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्यों ने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । आलवारों की भक्ति एवं पांचरात्र धर्म भी एक प्रकार से विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त पर ही आधारित था । इसमें ईश्वर, जीव और प्रकृति तीनों को अनादि मानते हुए जीव और प्रकृति को ईश्वर पर आश्रित मानते हैं । जिस प्रकार वस्तु से उसका गुण अलग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार ईश्वर से जीव और प्रकृति भी अभिन्न हैं । इस सिद्धान्त के भीतर ईश्वर को जीव और प्रकृति से एकाकार देखते हैं । विशिष्टाद्वैतवाद में शंकर के अद्वैतवाद की भाँति जीव मोक्ष की अवस्था में ब्रह्म में विलीन नहीं होता, बल्कि मरणोपरान्त वह जीव जो भक्ति की साधना पूर्ण कर चुका होता है बैकुण्ठ आदि धामों में जाता है और वहाँ भी अपने आराध्यदेव के सान्निध्य में उनकी भक्ति ही करता रहता है, और यही अवस्था उसको इष्ट भी होती है ।

इस सम्प्रदाय के श्रेष्ठ आचार्यों में श्री यामुनाचार्य और श्री रामानुजाचार्य हैं । श्री यामुनाचार्य का जन्म ९१६ ई० में मदुरा में हुआ था । इन्होंने भगवान को पूर्ण पुरुषोत्तम माना । जीव को अंश और ईश्वर को अंशी के रूप में निरूपित किया । इन्होंने भक्ति को शरणागति का पर्याय बताया । इनके सिद्धान्त से जीव और ईश्वर नित्य पृथक् हैं । भक्ति जीव का स्वधर्म है । भगवान अशरण-शरण और निराश्रय हैं । जीव का कल्याण तो एकमात्र ईश्वर-कृपा द्वारा ही सम्भव है । जीव जब ईश्वर कृपा पर पूर्ण श्रद्धा रख, अपने को निराश्रय समझ निरावरण हृदय द्वारा सर्वभावेन उसकी शरण जाता है तभी उसे ईश्वर की प्राप्ति होती है । श्री रामानुजाचार्य (सन् १०२७-११३७ ई०) के आविर्भाव से दक्षिण भारत का तिरुकुन्नूर ग्राम पवित्र हुआ था । इन्होंने श्री

यामुनाचार्य के मत को ग्रहरण किया और प्रपत्ति पर विशेष ज़ोर दिया। श्री शंकराचार्य ने सनातनधर्म को प्रतिष्ठित किया था, शास्त्रों के प्रति श्रद्धा जाग्रत् कर दी थी, किन्तु शास्त्रीय आचार की ठीक प्रतिष्ठा होकर हिंदू धर्म का पुनरुद्धार श्री रामानुजाचार्य द्वारा ही पूर्ण हुआ।

वैष्णव आचार्यों का दूसरा सम्प्रदाय द्वैतवाद का है। इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य श्री मध्व हैं। आपका जन्म संवत् १२५६ वि० में मद्रास के मंगलूर जिले के वेललिग्राम में हुआ था। आपका द्वैतवाद श्री रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैतवाद से भिन्न था। श्री रामानुजाचार्य ने ईश्वर और जीव का स्वगत भेद स्वीकार करते हुए भी सजातीय और विजातीय भेद नहीं माना है। श्री मध्व ने ईश्वर और जीव को दो नित्य पृथक् पदार्थ माना है। ईश्वर स्वतंत्र तत्व, जीव और जगत अस्वतन्त्र तत्व हैं। इसलिए जीव भगवान के साथ एक्य का अथवा 'अहं ब्रह्मास्मि' का विचार नहीं कर सकता। जीव को मुक्ति (बैकुण्ठ) की प्राप्ति भक्ति द्वारा ही सम्भव है। श्री मध्व का यह सिद्धान्त शांकरमत के ठीक विपरीत-सा हो गया है। यही कारण है कि शांकर-मत और भक्तिवाद के संघर्ष में श्रीमध्व का द्वैतवाद तीव्र विरोधी बना। श्री पद्मनाभाचार्य, श्री जयतीर्थाचार्य आदि ने आगे चलकर श्री मध्व के द्वैत-सिद्धान्त को सुपुष्ट एवं प्रसारित किया। इस सिद्धान्त से उपासना, शास्त्र, पर-लोक; कर्म आदि सबका पोषण हुआ है।

वैष्णव आचार्यों का तीसरा सम्प्रदाय द्वैताद्वैत मत है। इसको सनकादि सम्प्रदाय वा निम्बार्क सम्प्रदाय भी कहते हैं। इस मत के प्रधान आचार्य श्री निम्बार्क (नियमानन्द) थे। भारत का दक्षिरण प्रदेश आचार्यों की जन्मभूमि रहा है। गोदावरी तट पर वैदूर्यपत्तन के पास अरुणाश्रम में श्री नियमानन्द का जो आगे चलकर श्री निम्बार्क नाम से प्रसिद्ध हुए, आविर्भाव हुआ था। इनका जन्मकाल ११ वीं शती माना जाता है। इस मत के अनुसार द्वैत और अद्वैत दोनों सत्य हैं। अभेद होने के कारण ब्रह्म स्वरूपत: निर्गुण ओर सृष्टि के कारण-रूप में सगुण है। ब्रह्म का सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में विचार किया जा सकता है। किन्तु उसका सगुण भाव ही मुख्य है। जीव की मुक्ति का साधन भक्ति है, और इसीसे ईश्वर की प्राप्ति होती है।

वैष्णव धर्म का चौथा सम्प्रदाय शुद्धाद्वैतवाद (रुद्रसम्प्रदाय) का है। यह मत माध्वमत से बहुत-कुछ मिलता-जुलता है । इस सम्प्रदाय में लगभग ३०० वर्ष बाद श्री बल्लभ स्वामी (सन् १४७३-१५३१ ई०) हुए । इन्होंने ही इसको भली भाँति पुष्ट किया । इनके मत से जीव की मुक्ति तब होती है जब वह गोपीभाव प्राप्त करके श्रीकृष्ण की पति रूप में सेवा करता है । मध्य-कालीन भारत में जब देश एक विधर्मी मत से आक्रान्त था तब भक्ति कल्पलता का विस्तार करके भागवतधर्म की प्रतिष्ठा अक्षुण्ण रखने में महाप्रभु श्री बल्लभाचार्य ने बहुत बड़ा कार्य किया । ब्रह्म के नीरस चिन्तन से प्रभावित जन-मस्तिष्क को श्रीकृष्ण-भक्ति की रससुधा से सिक्त कर अलौकिक आनन्द प्रदान किया । आचार्य ने पुष्टिमार्ग की स्थापना की और श्रीमद्भागवत में वर्णित भगवान श्रीकृष्ण की लीलाओं में पूर्ण और अखण्ड आस्था प्रकट की। श्री विट्ठलनाथ महाप्रभु बल्लभाचार्य के पुत्र थे । इन्होंने इस सम्प्रदाय का विस्तार किया । श्री विट्ठलनाथ के सात पुत्र थे, और वे सब के सब धर्मोप-देशक थे ।

इन चार प्रधान वैष्णव सम्प्रदायों के अतिरिक्त दो अन्य भागवत सम्प्रदाय जैसे, चैतन्य-सम्प्रदाय और श्री-सम्प्रदाय और हैं । बंगाल में चैतन्य-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक श्री चैतन्य महाप्रभु हैं । श्री चैतन्य महाप्रभु का प्राकट्य संवत् १५४२ में बंगाल के नदिया (नवद्वीप) ग्राम में हुआ था । ये भगवान श्रीकृष्ण के अनन्य भक्त थे । बंगाल के वैष्णव, प्रधानतः गौड़ीय वैष्णव समाज तो, इन्हें साक्षात् पूर्णब्रह्म मानता है । इनके भक्ति-सिद्धान्त में भगवन्नाम का जय और कीर्तन मुख्य है । श्री बल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग तथा श्री चैतन्य की मधुरभाव की उपासना प्रायः एक ही है । दूसरा सम्प्रदाय श्री-सम्प्रदाय या वैरागियों का रामोपासक सम्प्रदाय है । श्रीराम की भक्ति इस सम्प्रदाय का मुख्य साधन है । इस सम्प्रदाय के आचार्य हैं श्री रामानन्द जी । श्री रामानन्द जी का जन्म संवत् १३२४ में प्रयाग में हुआ था । ये एक बहुत ही उदार वैष्णव आचार्य थे । इन्होंने न केवल हिन्दूमात्र को अपितु मनुष्यमात्र को ईश्वर की भक्ति द्वारा एक सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया । इनके सिद्धान्त से मनुष्यमात्र ईश्वर की उपा-

सना का अधिकारी है। भगवान का द्वार बिना किसी भेदभाव, जाति-पाँति या योग्यता आदि का विचार किए सब के लिए खुला हुआ है। उस मर्यादा पुरुषोत्तम राम को पुकारने के सब समान अधिकारी हैं। इसीसे इनके शिष्यों में समाज के ऊँच और नीच प्रत्येक वर्ग से आए हुए लोग पाए जाते हैं। रैदास जाति के चमार, कबीर जुलाहा, धन्ना जाट, सेना नाई तथा पीपा राजपूत थे।

हिन्दूधर्म के भीतर भक्तिभावना क्या विदेशी तत्त्व है ?

ऊपर भागवत धर्म के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है यह उसका इतिहास नहीं है। इस विवेचन की आवश्यकता इसलिए थी कि एक तो यह भक्तिकालीन ब्रजभाषा-साहित्य की पृष्ठभूमि उपस्थित करता है, और दूसरे यह प्रमाणित करता है कि भागवत् धर्म का प्रादुर्भाव ईसाई तथा इस्लाम धर्म के प्रभाव के कारण नहीं हुआ है। भक्ति का बीज बहुत पहले से हिन्दू धर्म के भीतर मौजूद था और उसका विकास समयानुकूल उसी शाश्वत नियम के अनुसार जिसमें कोई धर्म अनुकूल परिस्थिति में पनपता और प्रतिकूल परिस्थिति में सूख या मुरझा जाता है, हुआ था। हिन्दू धर्म के भीतर एक के बाद दूसरी धार्मिक विचार धाराएँ सदैव उत्पन्न होती रही हैं। यही कारण है कि उसमें बहुत से सम्प्रदाय अथवा मत-मतान्तर हैं। किन्तु उनकी आधार शिला एक ही है और वह है भारतीय 'दर्शन'। इसीसे इनमें आपसी भेद के बीच बहुत-कुछ सामञ्जस्य पाया जाता है। वेदों के स्तोत्रों में ईश्वर के प्रति श्रद्धा एवं भक्ति के भाव मौजूद हैं। उपनिषदों में भक्ति सम्बन्धी विचार और भी स्पष्ट हैं। 'कठ' उपनिषद में यह बताया गया है कि जीव को ईश्वर की प्राप्ति विद्या, बुद्धि, वेदाध्ययन तथा साधना के बल पर नहीं हो सकती। उसकी प्राप्ति एकमात्र उसकी 'कृपा' द्वारा ही सम्भव है। वस्तुतः भक्ति और ईश्वर-कृपा एक ही वस्तु है। ईश्वर की कृपा द्वारा जीव का कल्याण, जब वह ईश्वर के चरणों में आत्म-समर्पण कर देता है, 'श्वेताश्वतर', 'तैत्तिरीय' तथा 'बृहदारण्यक' उपनिषदों में भी वर्णित है। गीता में भक्ति का सुस्पष्ट वर्णन है। अत: मि० वेबर (Weber) और ग्रियर्सन (Grierson) आदि विद्वानों का यह मत कि हिन्दू धर्म के भीतर

'भक्तिभावना' एक विदेशी तत्व है और वह तत्व सीरियन ईसाईधर्म के साथ, जिसका प्रवेश ईसा के २-३ सौ वर्ष बाद दक्षिण भारत में हुआ था, आया मान्य नहीं है। इस विचार का खण्डन स्वयं विदेशी विद्वान मि० बार्थ (Barth) और मि० सेनार्ट (Senart) आदि ने भी किया है।[1]

कुछ लोग दक्षिण भारत में भक्ति धर्म के विकास का सम्बन्ध इस्लाम से भी जोड़ते हैं। उनका कहना है कि भारत में अरब मुसलमान व्यापारी बहुत पहले से आ-जा रहे थे। कुछ मालाबार के समुद्री तट पर बस भी गये थे। इसलिए ऐसा अनुमान गलत न होगा कि इस्लाम का प्रभाव भक्ति के विकास पर पड़ा। पर इस प्रकार का अनुमान केवल अनुमानमात्र ही है। उस समय दक्षिण भारत में बसे मुसलमानों की संख्या इतनी नगण्य थी कि उनकी विचारधारा का कोई ऐसा व्यापक प्रभाव हिन्दू धर्म पर पड़ने की, जो एक नवीन धार्मिक तत्व को जन्म दे दे, कल्पना ही नहीं की जा सकती। ठीक इसी प्रकार कतिपय विद्वान् भक्ति को आर्येतर धर्म मानते हैं। उनका कहना है कि भक्ति की प्रवृत्ति भारतीय जनता में द्राविड़ों और आर्यों के भारत-आगमन के पहले से ही विद्यमान

---

1. **मि० सेनार्ट** (Senart) **ने अपनी पुस्तक 'ला भगवद्गीता'** (La Bhagvadgita) **पृ० ३५ पर लिखा है—**
"Bhakti has certainly in India very deep roots........ Already in the vedic Hymns the pious enthusiasm burst into vibrant expressions of quasi-monotheism... Many superhuman personalities must have emerged from the religious fermentation which was working silently under the traditional surface and which assisted, along with the blending of races, the increase of local traditions,and raised to the highest level figures such as Vishnu, Krishna, Shiva whether entirely new or renewed by their unforseen importance. For this there was no need of any foreign influence."

थी। चूँकि द्राविड़ आर्यों से भारत में पहले आए इसलिये भक्ति-तत्व ने पहले द्राविड़ और बाद में आर्य-धर्म में प्रवेश किया। जब विद्वानों में आज-दिन तक यह प्रश्न ही विवादास्पद बना हुआ है कि आर्य और द्राविड़ यहीं के निवासी थे या भारत के बाहर से आये तो फिर इसका निर्णय कैसे हो कि जिन भारतीय जनता में द्राविड़ों एवं आर्यों के आने के पूर्व भक्ति-तत्व मौजूद था वे यही द्राविड़ और आर्य थे अथवा कोई दूसरे। इस प्रकार की भूलें लोगों से इसलिए हुई हैं कि भक्ति का उत्थान गीता-काल के बाद हमें दक्षिण भारत में होता हुआ दिखाई देता है। ऊपर यहाँ यह दिखाया गया है कि भक्ति का प्रवर्तन उत्तरी-भारत में हुआ था और यहीं से वह दक्षिण भारत पहुँची। वह न आर्येतर प्रवृत्ति है और न उसका विकास हिन्दू धर्म में वाह्य तत्व के आधार पर हुआ है।

इस वाह्य तत्व के सम्बन्ध में इतना कहा जा सकता है कि जब भारत में मुसलमानों की सल्तनत कायम हुई और इस्लाम धर्म को प्रश्रय मिला, प्रचारकों और सूफी साधुओं का देश में ज़ोर बढ़ा तो हिन्दू-विचारधारा ने भी एक नया मोड़ अवश्य लिया। रामानन्द, कबीर, नानक आदि सन्तों ने समाज के ऊँच-नीच के बंधन को ढीला कर हिन्दू ही क्या मानवमात्र को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया। इन सन्तों ने जाति-पाँति के बंधन को जो ढीला किया वह फिर भी एकमात्र इस्लामधर्म का प्रभाव नहीं कहा जा सकता। आलवार सन्तों और वैष्णव आचार्यों ने प्रपत्तिमार्ग द्वारा निम्नवर्ग के लोगों तथा स्त्रियों तक को ईश्वर-कृपा का समान अधिकारी बनाकर ग्रहण कर लिया था। इतना अवश्य है कि इस्लाम और ईसाई धर्मों के कारण भक्ति-आन्दोलन में उस समय तीव्रता आई। ईसाई तथा इस्लाम की भ्रातृ-स्नेह (Brotherhood) की भावना हिन्दू-समाज के उपेक्षित निम्नवर्ग के लोगों को आकर्षित करने लगी थी। ब्राह्मण-धर्म ने देश में इस्लाम के प्रवेश के साथ अपने आचार-विचार में और भी कठोरता ला दी थी। वह विधर्मियों तथा अछूतों को किसी प्रकार भी धार्मिक क्षेत्र में समानाधिकार देने को तैयार न था। उस समय ऊँच-नीच की भावना से उठकर हिन्दू-समाज और धर्म को संगठित होने की जरूरत थी। भक्ति द्वारा

बहुत-कुछ यही कार्य सम्पन्न हुआ जिसे कुछ अंश तक हम बाह्य प्रभाव कह सकते हैं।

वैष्णवधर्म की विशेषता

एक अन्य बात यहाँ और विचारणीय है। वह यह कि देश में जैन, बौद्ध, शाक्त, सौर, वेदान्त आदि धर्मों का प्रचलन होते हुए भी मुसलमानी सल्तनत के उस विपरीत परिस्थिति में हिन्दू-समाज भागवत या वैष्णव धर्म की ओर विशेष आकर्षित क्यों हुआ ? इसके अनेक कारण हैं। वेदान्त के आध्यात्मवाद की उपासना जिसमें कोरा दार्शनिक और तात्विक सिद्धान्तों का विवेचन है साधारण व्यक्ति के लिए प्रायः कठिन सिद्ध हो रहा था। ज्ञान की उपासना के संबंध में गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है—'कहत कठिन, समुझत कठिन, साधत कठिन बिवेक'। हार्दिक भावों से दूर आध्यात्मवाद की नीरस और शुष्क उपासना इसीसे लोगों के मन को न पकड़ सकी। हार्दिक भाव साधारण जनता के मन को जितनी सरलता से वश में कर सकते हैं उतनी सरलता एवं शीघ्रता से विवेकात्मक विचार नहीं। हृदय में श्रद्धा एवं विश्वास लाने के लिए न अधिक पाण्डित्य की आवश्यकता है और न हठयोग अथवा किसी अन्य कष्टप्रद साधना की। सहज साधारण सामाजिक तथा गृहस्थ के कर्तव्य कर्म को पूरा करता हुआ भक्त परमार्थ की प्राप्ति कर सकता है। पंडित, अपंडित, योगी, यती, धनी, दरिद्र, ब्राह्मण अथवा अन्त्यज सभी समान रूप से इस स्रोत के शीतल रस से अपनी तृषा बुझा सकते हैं। जरूरत पड़ती है केवल भाव द्वारा भगवान से आत्मीयता स्थापित करने की। उस विश्वेश्वर से, जो सब भूतों में समभाव से व्याप्त है और जिसको इस चराचर में सभी प्रिय हैं, एक बार आत्मीयता की स्थापना हुई न कि उस व्यक्ति के हृदय में प्राणिमात्र के प्रति बन्धुत्व का भाव उदित हो जाता है। भय, शोक, निराशा आदि का उसके जीवन में सदा के लिए अन्त हो जाता है—'राम भगति-मनि उर बस जाकें, दुख लवलेस न सपनहु ताकें।' विपत्ति के समय में भी उसका साहस, धैर्य्य, विवेक अचल और अटल रहता है। भक्त-भयहारी भगवान को वह सदैव अपने साथ देखता है।

यही कारण है कि तत्कालीन प्रतिकूल परिस्थिति में जबकि हिन्दुओं पर आपत्ति के काले-काले बादल छाये हुये थे, वेदान्त के ज्ञानवाद की अपेक्षा वैष्णव धर्म ने लोगों को अधिक आकर्षित किया।

वैष्णव धर्म की दूसरी विशेषता यह है कि इस धर्म के सिद्धान्त में जगत को रज्जु में सर्प की भ्रांति की भांति असत और मिथ्या प्रमाणित नहीं किया। जगत को सत्य माना और उसको ईश्वर की अनन्त विभूति का एक स्वरूप कहा। इसका परिणाम यह हुआ कि जीवन के प्रति उदासीनता और उपेक्षा का भाव हट गया। लोगों को जीवन सरस और आनन्दमय दिखाई देने लगा। जीवन के प्रति इस प्रकार के दृष्टिकोण ने भी उस समय लोगों को वैष्णवधर्म की ओर आकर्षित किया।

उत्तरी भारत में भक्तिधर्म का प्रचार होने के पूर्व समाज की नैतिक अवस्था गिरी हुई थी। वज्रयानी बौद्धों, तांत्रिकों और सिद्धों के गुह्य साधन तथा शाक्तों और वाममार्गियों के पञ्चमकार की उपासना ने लोगों में चारित्रिक दुर्बलता उत्पन्न कर दी थी। अपने सम्प्रदाय वालों से इनका कहना था कि पूर्व निर्धारित सम्पूर्ण आचार-विचार की अवहेलना करो। जितना चाहो झूठ बोलो, व्यभि-चार व हिंसा करो।[1] इससे इन लोगों पर से जनता की आस्था उठ गई थी। साधारण जनता नैतिक सुधार में पथ-प्रदर्शन चाहती थी जिसपर चलकर उनके हृदय एवं चरित्र की संकीर्णता दूर होती। वैष्णवधर्म ने दया, प्रेम, सेवा, सत्य आदि को महत्ता दी, और इंद्रियलोलुपता, असत्य, हिंसा, व्यभिचार आदि का वहिष्कार किया। वैष्णव आचार्यों ने मन, वाणी और कर्म की पवित्रता पर जोर दिया। इन बातों ने भक्ति को लोकप्रिय बनाया।

---

1. "The Guhyasmaja Tantra asks its followers to disregard all social laws. It lays down—you should freely immolate animals, utter any number of false-hoods, take things which do not belong to you & even commit adultory"

—cultural Heritage of India Vol. II Page 215

वैष्णवधर्म ने सांख्य, योग एवं वेदान्त आदि धर्मों के सिद्धान्तों और व्यवस्थाओं का एक सुन्दर ढंग से समन्वय भी उपस्थित किया। इसने वर्णाश्रमधर्म का पूर्णरूप से वहिष्कार तो नहीं किया, पर उसकी कठोरता को कम कर दिया। भक्तों में जाति-भेद को अधिक घुसने नहीं दिया। दूसरे, प्रवृत्ति और निवृत्ति-मार्ग की पहेलियों को भी बड़ी विशेषता के साथ सुलझाया। परमार्थ की प्राप्ति के लिए सांसारिक कर्त्तव्यों से पलायन को आदर्श नहीं समझा। इस संसार के बीच सेवा और प्रेम की साधना पर अधिक ज़ोर दिया। उस दीनवत्सल, दयामय भगवान का गुणगान करते हुए प्रातिकूल्य का वर्जन और आनुकूल्यका अर्जन करते हुए जीवन का निर्वाह करना मंगल और मोदकारी बताया। इस प्रकार व्यावहारिक एवं मध्यमार्ग के अवलम्बन से भक्तिधर्म को साधारणतया अधिक सहानुभूति प्राप्त हो सकी।

जैन और बौद्धधर्म को श्री शंकराचार्य के ब्राह्मणधर्म ने पर्याप्त प्रभावहीन तो कर दिया था, किन्तु शंकराचार्य के मायावाद में भी लोगों को जैन और बौद्ध नास्तिक धर्मों के समान शून्यवाद की गंध आती थी। इसलिए, इन नास्तिक धर्मों के विरोध के लिए जिनका हिंदूधर्म अन्त कर देना चाहता था, भक्ति धर्म अधिक उपयुक्त था।

जिस समय भक्तिधर्म उत्तरी भारत में फैला, उस समय हिन्दू-जनता पराजित एवं त्रस्त थी। शुष्क तर्क प्रतिपादित अद्वैत अथवा विवेकात्मक ब्रह्मवाद उसको सान्त्वना प्रदान नहीं कर पा रहा था। इसीसे निर्गुण सन्तों की फटकार जनता को हृदयग्राही न हो सकी। उनमें तो उस समय भक्त-सन्तों की वाणी ने ही आत्मविश्वास जागृत किया। भक्त-सन्तों ने बताया कि विपत्तियों से घबड़ाना तो सर्वशक्तिमान भगवान में अविश्वास करना है। दुष्टों के दमन तथा दीन-दलितों की रक्षा का भार उसी पर है। इसके लिए आवश्यकता पड़ने पर वह अवतार भी लेता है। भक्त को तो धैर्यपूर्वक उसके अनुग्रह की बाट देखनी चाहिए। उसके अनुग्रह से सम्पूर्ण विपत्तियों का शीघ्रातिशीघ्र अवसान हो सकता है। इस प्रकार वैष्णवधर्म हिन्दू जनता में उस समय सान्त्वना और शक्ति प्रदान का माध्यम बना।

इन सब कारणों के अतिरिक्त भक्ति के प्रचार में भक्त कवियों का भी काफी हाथ था। भक्ति के अलौकिक आनन्दरस से परिपूरित सूर, तुलसी आदि की सरस वाणी ने भी लोगों को भक्तिरसामृत चखाने में कोई कोर कसर नहीं छोड़ी। भगवत लीला सम्बन्धी जो मधुर गान इन लोगों के कल कण्ठ से निसृत हुआ वह उस विषम परिस्थिति में ही नहीं आज दिन भी दुखी और सन्तप्त हृदय को शान्ति और शीतलता प्रदान कर रहा है।

यह ऐतिहासिक सत्य है कि किसी धर्म का परिवर्तन एवं प्रसार सामाजिक आवश्यकताओं के कारण ही होता है। भक्तिधर्म के पृष्ठ में ऊपर वर्णित सामाजिक कारण मौजूद थे। इसीसे उसका प्रभाव उस समय बढ़ा और श्री विष्णुस्वामी, श्री रामानुज, श्री निम्बार्क, श्री मध्व, श्री रामानन्द, श्री वल्लभ, श्री चैतन्य आदि आचार्यों, सन्तों, भक्तों द्वारा यह कार्य सम्पन्न हुआ। इस भक्ति धर्म के भीतर भी कृष्णभक्ति का वेग अधिक था।

कृष्णभक्ति और ब्रज

ब्रज की पुण्य भूमि ने भक्ति धर्म के प्रत्येक सम्प्रदाय का आदर किया है; किन्तु कृष्णभक्ति को जो अपनत्व वहाँ मिला और वहाँ के जन-जीवन में वह जिस प्रकार व्याप्त हुई वैसा अन्य को न मिल सका। इसका सबसे प्रधान कारण यह है कि ब्रज भगवान श्रीकृष्ण की लीलाभूमि है। 'गुर्जरे जीर्णतां गता'—गुजरात में पहुँचकर बूढ़ी होने वाली भक्ति को ब्रज में कृष्ण के सहयोग से पुनः नवशक्ति प्राप्त हुई।

महाभारत के कृष्ण विष्णु के अवतार माने गए हैं। महाभारत के पूर्व वैदिक, ब्राह्मण तथा उपनिषद् साहित्य में कृष्ण तथा राधा ईश्वर-रूप में नहीं आए हैं। गीता में वे एकान्त ब्रह्म के पद पर अधिष्ठित होते हैं और श्रीमद्-भागवत में लीलाधर और नटवर के नाम से रास रचते तथा लीला करते हैं। इसके अतिरिक्त पद्मपुराण, स्कन्दपुराण, हरिवंश और वैवर्त में भी विष्णु के अवतार के रूप में इनकी लीला-माधुरी का स्पष्टतया वर्णन है। ऐतिहासिक खोजों के आधार पर यह कहा जाता है कि कृष्ण की उपासना ईसा के ५००-

६०० वर्ष पूर्व होने लगी थी। कृष्ण की बाललीलाओं का वर्णन तामिल कवियों की कविताओं में जिनका संग्रह 'परोपदलु' नाम से हुआ है, मिलता है। इन प्राचीन तामिल कवियों का समय ईसा की प्रथम शती है। दक्षिण भारत में जैसा कि पहले दिखाया गया है वैष्णव-भक्ति का प्रादुर्भाव आलवार सन्तों द्वारा हुआ था। बाद में वैष्णव आचार्यों ने जिन चार प्रधान सम्प्रदायों की स्थापना की वे सम्पूर्ण भारत में फैले। इन सम्प्रदायों के सभी आचार्य दक्षिण भारत के थे। इसीसे यह कहावत चल पड़ी कि 'भक्ति द्राविड़ उपजी'। इन आचार्यों में भक्ति की प्रबलधारा बहाने का श्रेय श्री रामानुजाचार्य को है। श्री निम्बार्काचार्य एवं श्री विष्णुस्वामी के पूर्व दक्षिण के इन आचार्यों ने कृष्ण की उपासना की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया था। पहले-पहल श्री निम्बार्काचार्य का ध्यान इधर गया। श्री निम्बार्क का आविर्भाव-काल ११ वीं शती माना जाता है। ये तैलंग ब्राह्मण थे। इनके पिता विष्णु भगवान के उपासक थे। निम्बार्काचार्य ने कृष्णरूप को अपनी भक्ति के लिए चुना। व्रज में श्री गिरिराज गोवर्द्धन के समीप ध्रुवक्षेत्र को उन्होंने अपनी साधन-भूमि बनाई और वहीं श्रीराधाकृष्ण की भक्ति में अपना जीवन बिताया। इस प्रकार सम्भवतः ११ वीं शती से श्री निम्बार्क द्वारा श्रीराधाकृष्ण की भक्ति उपासना की जो निर्झरिणी बही वह अबाध गति से आजदिन तक प्रवाहित हो रही है।

श्रीनिम्बार्काचार्य ने श्रीकृष्ण को पारब्रह्म और श्रीराधा को उनकी आल्हादिनी शक्ति माना और माधुर्य का पुट देकर उन्हें सर्वसाधारण के लिए आकर्षित बना दिया।

भगवान श्रीकृष्ण की प्राप्ति के लिए सन्तों ने पाँच भाव बताए हैं—शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य, और मधुर। इनमें मधुर भाव सर्वश्रेष्ठ कहा गया है। श्रीकृष्ण मेरे पति, स्वामी, प्राणवल्लभ हैं, मैं उनकी दासी हूं इस भाव का नाम है 'मधुरभाव' की उपासना। यथार्थ में श्रीराधाकृष्ण की दिव्य मधुरसुधामयी भगवत-प्रेम-रस-लीला के आस्वादन के लिए चित्त की जो प्रबल और अदम्य लालसा होती है उसी का नाम 'मधुर प्रेम' है। मधुरभाव का प्रस्फुटन

उन्हीं में होता है जो वैराग्य की चरमसीमा का अतिक्रमण कर चुके होते हैं। जिनमें गन्दे इन्द्रिय-भोग-सुखों की तो कल्पना ही नहीं, मोक्ष-सुख का भी परित्याग हो जाता है। अपने लिए जहाँ कुछ रहता ही नहीं, अहं की जहाँ सर्वथा विस्मृति या निवृत्ति हो जाती है और सुख एवं दुःख दोनों ही केवल श्रीकृष्ण-सुख के लिए ही स्वीकार किए जाते हैं। इसके साधन में जीव मन में ऐसा भाव, चिन्तन, धारणा या ध्यान करता है कि मैं एक किशोर वय की परम-सुन्दरी गोपकुमारी हूँ, मेरे हृदय में इन्द्रियसुख की, नामकीर्ति की, लोक-परलोक या भोग-मोक्ष की किसी भी वासना का लेश भी नहीं है; श्री राधाकृष्ण की सुख-सेवा का रसास्वादन ही मेरा स्वभाव है। ऐसा विलक्षण मधुरतम भाव केवल ब्रजगोपियों में ही पूर्ण एवं विशुद्ध रूप से सदा सुप्रतिष्ठित रहता है। श्री ब्रजधाम की ब्रजसुन्दरियों से परिवृत श्री राधामाधव की यह लीला बड़े-बड़े ऋषि-मुनियों के लिए भी अगोचर और दुर्लभ कही गई है। भक्तों की मान्यता के अनुसार स्वयं ब्रह्मविद्या इसकी प्राप्ति के लिए कल्पों तक तपस्या करती है।

श्री राधाकृष्ण की माधुर्यभाव की उपासना जहाँ एक ओर इतनी उच्च और श्रेष्ठ है, वहाँ दूसरी ओर इस भाव के फलस्वरूप नायक-नायिका भेद के लिए भी उनके चरित्र में पर्याप्त स्थान निकल आया है। इसीसे वह शृंगारात्मक बन गई है। इसी स्वरूप को अपनाकर जयदेव, विद्यापति, चंडीदास आदि कवियों ने अपने गीत-पदों में विलास-कला से भरी श्रीराधाकृष्ण की कथाओं के बड़ी तन्मयता से वर्णन किए हैं। माधुर्यभाव की प्रधानता के कारण ये काव्य शृङ्गार-रस से संयुक्त तो हैं, किन्तु वे व्यभिचार और विलासिता के प्रतीक नहीं माने जा सकते। स्वयं ऋचारूपी गोपियों ने श्रीकृष्ण के साथ विहार किया है—'वेद-रिचा होइ गोपिका, हरि सों कियो विहार'—सूरसागर। इसलिए उन्हें जो विषय-वासना से पूर्ण मानते हैं वे श्रीराधाकृष्ण की गोपीभाव की शृंगारमय उपासना की पवित्रता की ओर सम्यक् ध्यान नहीं देते। इस प्रकार की उपासना में 'अनुरागी चित्त' की गति को सरलता से समझना बहुत कठिन है—

'या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहि कोइं।
ज्यों-ज्यों बूड़ै स्यामरंग, त्यों-त्यों ऊजर होइ ॥'

—बिहारी

फिर भी इतना स्वीकार करना ही पड़ेगा कि राधाकृष्ण की माधुर्य भाव की भक्ति का अनिष्ट प्रभाव ब्रज-साहित्य पर अवश्य पड़ा है। राधा-कृष्ण की केलि-कथाओं का स्मरण लोगों को भक्ति की आदर्श भावनाओं से हटाकर भौतिक पक्ष की ओर अवश्य ले गया है।

श्रीनिम्बार्क सम्प्रदाय की प्रधान दो शाखाएँ हैं। एक है 'हरिव्यासी' और दूसरी है 'हरिदासी'। 'हरिदासी' आगे चलकर 'टट्टी सम्प्रदाय' के नाम से भी प्रसिद्ध हुआ। इनमें अनेक प्रतिभाशाली भक्त-कवि हुए हैं। इनकी रचनाएँ प्रधानत: ब्रजभाषा में हैं और उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने भक्त-विह्वल हृदय को उड़ेल दिया है। 'युगलशतक' श्री भट्टकृत तथा 'महावाणी' श्री हरिव्यासकृत इस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रंथ हैं। 'युगलशतक' में श्री राधाकृष्ण के युगलस्वरूप की मधुर रागमयी आराधना का तथा 'महावाणी' में श्री राधाकृष्ण के नित्य विहार का वर्णन सरस ब्रजवाणी में है। इसी प्रकार परशु-रामकृत 'परशुराम सागर', रूपरसिककृत 'बृहदोत्सव मणिमाल', 'हरिव्यास यशामृत' और 'नित्यविहार', वृन्दावनदेवकृत 'कृष्णामृत', गोविन्ददेवकृत 'जयति चतुर्दशी', बाँकापतिकृत 'ब्रजदासी-भागवत', सुन्दरिकुँवरिकृत 'नेह-निधि', 'वृन्दावन-गोपी-महात्म्य', 'रस-पुंज', 'प्रेम-संपुट', 'रंग-झर', 'भावना प्रकाश' आदि, छत्रकुंवरिबाईकृत 'प्रेम विनोद', रसिक गोविन्दकृत 'रसिक गोविन्दा-नंदघन', 'पिंगल', 'कलिजुग रासौ', स्वामी हरिदास कृत 'सिद्धान्त के पद', पीताम्बरदेवकृत 'भक्त सिद्धान्तमणि', 'पूजाविलास', 'कुंज-कौतुक', 'रससार', 'बाललीला' आदि, किशोरदासकृत 'सवैया-पचीसी' आदि ब्रजभाषा काव्य के ग्रन्थ हैं। इन लोगों ने ब्रजभाषा-साहित्य का निर्माण किया। इनकी रचनाओं में काव्य-सौष्ठव के दो उदाहरण इस प्रकार हैं—

१. "स्याँमघन, उमँगि - उमँगि इत आवै ।
क्रीट, मुकुट, कुंडल, पीताम्बर, मनु दामिनि दरसावै ।।
मोतिनमाल लसत उर ऊपर, मनु बग-पाँति लखावै ।
मुरली-गरज मनोहर धुनिसुनि, स्रवन-मोर सचुपावै ।।
हम पर कृपा करी हरि मानों, नीर-नेह झर लावै ।
'रूपरसिक' यह सोभा निरखत, तन, मन, नेंन सिरावै ।।"

—रूपरसिक

२. "मेरी प्राँन सँजीवन राधा ।
कब तुव बदन-सुधाधर दरसों, मो अखियन हरै बाधा ।।
ठमकि-ठमकि लरकोंहीं चालन, आउ सामुँहे मेरे ।
रस के बचन पियूष पोषिकें, कर गहि बैठों तेरे ।।
रंग-मैहैल-संकेत सुगल करि, टहलँन करों सहेली ।
आग्या लहों रहों तहँ ततपर, बोलत प्रेम-पहेली ।।
मन-मंजरी जु कीन्हों किंकर, अपनावौ किन वेग ।
'सुन्दरि कुँवरि' स्वामिनी राधा, हिय कौ हरौ उदेग ।।"

—सुन्दरि कुँवरि

कृष्णभक्ति और ब्रजभाषा

श्रीकृष्ण उपासना के तीन रूप हम लोगों के सामने आते हैं—(१) बाल-कृष्ण-रूप, (२) राधाकृष्ण अथवा गोपीकृष्ण रूप, और (३) महाभारती कृष्ण-रूप। ब्रज ने बालकृष्ण और राधाकृष्ण इन दो रूपों की उपासना को अपनाया है। महाभारती कृष्णरूप की ओर ब्रजवासियों का अनुराग न हुआ। एक स्थल पर सूरदास ने विरही ब्रजगोपियों द्वारा स्पष्ट कहलावाया है कि यदि द्वारिका जाने पर कृष्ण मिल भी जाएँ तो भला 'नवकिशोर तन' और 'मुख मुरलीधारी'

कृष्ण बिना वे अपने नैनों को वहाँ क्या दिखलावेंगी[१]। श्रीकृष्ण के बालरूप की उपासना की प्रधानता बल्लभसम्प्रदाय में है। कहा जाता है कि श्री बल्लभाचार्य की कठोर तपस्या से प्रसन्न होकर श्रीकृष्ण ने गोपालरूप में गोवर्धन पर उनको दर्शन दिया और बाल-गोपाल की पूजा का आदेश किया। तभी से बल्लभ सम्प्रदाय में बालगोपाल की पूजा अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है। श्री बल्लभाचार्य भगवान को सर्वभावेन भजनीय बतलाया और अन्य वैष्णव आचार्यों की भाँति 'माधुर्यभक्ति' को श्रेष्ठ कहा। इसीसे 'वात्सल्य-भक्ति' के साथ-साथ अन्य भक्ति-भाव की उपासना भी उनके सम्प्रदाय में पाई जाती है। प्रधानता 'माधुर्य भाव' की है जो स्वकीया, परकीया तथा मातृ-हृदय के रूप में प्रकट हुई है। देश की तत्कालीन परिस्थिति में उन्होंने कृष्ण-उपासना को महत्व प्रदान किया—

'म्लेच्छाक्रांतेषु देशेषु पोषेषु निलयेषु च।
सत्पीडाव्यग्रलोकेषु कृष्ण एव गतिर्मय ॥'
(कृष्णाश्रयस्तोत्र—बल्लभाचार्य)

कृष्ण-प्राप्ति के लिये उन्होंने जिस सिद्धान्त को ग्रहण किया, वह है 'पुष्टि-मार्ग'। 'पुष्टि' का अर्थ है भगवान का अनुग्रह, उनकी दया तथा कृपा। यह मार्ग मर्यादामार्ग से नितान्त भिन्न है। मर्यादामार्ग में कर्म की प्रधानता होती है। जीव

१. "हौं कैसें के दरसन पाउँ।
सुनहु पथिक, वा देस द्वारिका जो तुम्हरे संग जाउँ॥
बाहर भीर बहुत भूपन की, बूझत बदन दुराऊँ।
भीतर भीर भोग-भामिनि की, तिहि ठाँ कौन पठाऊँ॥
बुधि, बल, जुक्ति, जतन करि वा पुर, हरि-पिय पै पहुँचाऊँ।
अब वन-बसि निसि कुंज-रसिक बिन, कौनहिं दसा सुनाऊँ॥
स्रम के 'सूर' जाउँ पिय पासहिं, मन में भलें मनाउँ।
नव-किसोर मुख मुरली बिन, इन नैनन कहा दिखाऊँ॥

जैसा कर्म करता है भगवान उसे वैसा ही फल देते हैं—'कर्मानुरूपं फलम्।' पुष्टिमार्ग में भगवान कर्म की तनिक भी अपेक्षा नहीं रखते। वे तो आत्मसमर्पणशील सम्मुख आए हुए जीव के कोटि कोटि जन्मों के पापों को शीघ्र नाशकर अपना लेते हैं। जीव के बुरे कर्मों तथा उसकी अज्ञानता की ओर रंच भी ध्यान नहीं देते। व्यावहारिक दृष्टि से यह मार्ग तत्कालीन परिस्थिति में बहुत उपादेय सिद्ध हुआ। एक तो लोगों को ज्ञान व कर्म-मार्ग के समक्ष यह पुष्टिमार्ग सरल और सुगम प्रतीत हुआ, और दूसरे स्त्रियाँ और शूद्रादि भी यह समझने लगे कि वे इस मार्ग द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। अछूतादि निम्नवर्ग की जातियाँ जो यवनधर्म ग्रहण करती जा रही थीं वे अपने आत्मोन्नति का मार्ग इसमें पाकर रुक गईं।

श्री वल्लभ सम्प्रदाय के उद्योगों से कृष्णभक्ति का प्रचार भारत भर में हुआ। इसी कृष्णभक्ति का अवलम्बन पाकर ब्रजभाषा सारे उत्तरापथ की काव्य-भाषा के रूप में गृहीत हुई थी।

ब्रजभाषा-साहित्य पर वल्लभ सम्प्रदाय का प्रभाव स्पष्ट है। श्री वल्लभाचार्य की रचनाएँ संस्कृत में हैं, किन्तु भक्ति के प्रचार और उपदेशादि में वे ब्रजभाषा का प्रयोग किया करते थे। उनके पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ ने ब्रजभाषा की उन्नति में महत्वपूर्ण योग दिया। ब्रजभाषा-साहित्य की अभूतपूर्व उन्नति 'अष्टछाप' के भक्त-कवियों द्वारा हुई। इन अष्टछाप के कवियों में सूरदास, परमानन्ददास, कुंभनदास, कृष्णदास, नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्द स्वाम और छीतस्वामी थे। इनमें प्रथम चार श्रीवल्लभाचार्य के तथा अन्तिम चार गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य थे। श्री वल्लभाचार्य ने अपने शिष्यों को 'श्रीनाथ जी' के कीर्तनार्थ ब्रजभाषा में पद-रचना की प्रेरणा दी थी। बाद में इस कार्य में गोस्वामी विट्ठलनाथ के शिष्य भी सम्मिलित हुए। अष्टछाप के ये भक्त-कवि समकालीन थे। ये उच्चकोटि के भक्त होने के साथ-साथ कवि, गायक और संगीतज्ञ भी थे। व्रजभाषा इनके हाथों में पड़कर धन्य हुई। इनकी मुख्य रचनाएँ हैं—सूरकृत 'सूर सागर' और 'भ्रमरगीत', परमानन्ददास कृत 'परमानन्द सागर', कृष्णदास कृत 'प्रेमतत्वनिरूपण', 'जुगल मानचरित्र'

और 'भ्रमरगीत', नन्ददासकृत 'ज्ञानमंजरी', 'सिद्धान्त पञ्चाध्यायी', 'जोगलीला', 'दानलीला' 'नागलीला', 'पनिहारिनलीला' 'भँवरगीत', 'रुक्मिणी मंगल', 'श्याम सगाई' तथा 'रासपंचाध्यायी', चतुर्भुजदासकृत 'भक्ति प्रताप' और 'द्वादस यश' आदि । इन आठ कवियों के अतिरिक्त इस सम्प्रदाय में और भी सहस्रों सुकवि हुए जिन्होंने अपनी रचनाएँ ब्रजभाषा में ही कीं ।

ब्रजभाषा इस सम्प्रदाय के इष्टदेव भगवान श्रीकृष्ण के मुख की भाषा थी, जिसमें उन्होंने 'किलकारी भरी' थी; इसलिए इस सम्प्रदाय के भक्त कवियों ने उसको पूर्ण सम्मानित एवं गौरवान्वित किया । उसकी यथेष्ट उन्नति हुई और वह शताब्दियों तक हिन्दी-साहित्य में काव्य-भाषा का स्थान लिए रही । इस सम्प्रदाय की अगणित रचनाएँ इस सम्प्रदाय के मंदिरों और पुस्तकालयों में सुरक्षित हैं ।

अष्टछाप-कवियों में सूर-काव्य के पूर्व ब्रजभाषा-साहित्य का अस्तित्व नाममात्र को मिलता है । अष्टछाप के कवियों ने कृष्ण की दास्य, वात्सल्य, सख्य और कान्ता भक्ति को लेकर रचनाएं की हैं । सूरादि कवियों के विनय सम्बन्धी पदों में दास्य भक्ति के दर्शन होते हैं—

'प्रभु मैं सब पतितन को टीकौ ।
और पतित सब द्योस चारि के मैं तौ जन्मत ही कौ ॥
बधिक अजामिल गनिका त्यारी और पूतना ही कौ ।
मोहि छाँड़ि तुम और उधारै मिटै शूल केसें जीकौ ॥
कोउ न समरथ सेवकरन कौ खेंचि कहत हों लीकौ ।
मरियत लाज 'सूर' पतितन में कहत सबन में नीकौ ॥'

वात्सल्य भक्ति सम्बन्धी पद इन कवियों के कृष्ण-जन्म से लेकर उनके किशोरावस्था प्राप्त करने के पूर्व तक के हैं । कृष्ण पालने में झूल रहे हैं, माँ यशोदा और गोपियों की आनन्द-अनुभूति का वर्णन परमानन्ददास इस प्रकार करते हैं—

'माई री कमलनैन श्यामसुन्दर झूलत हैं पालना।
बाललीला गावत सब गोकुल की ललना॥
अरुन तरुन चरन-कमल नख मनि जस जोती।
कुंचित कच भँवराकृत लटकत गजमोती॥
अँगूठा गहि कमलपानि मेलत मुख माही।
अपनो प्रतिबिम्ब देखि पुनि-पुनि मुसकाही॥
जसुमति के पन्य पुञ्ज बारंबार लाले।
'परमानंद' प्रभु गोपाल सुत सनेह पाले॥'

कृष्ण आँगन में खेलते हैं। माँ यशोदा निरखि-निरखि सुख पाती हैं—

"कहाँ लग बरनौ सुन्दरताई।
खेलत कुमर कनिक आँगन में नेन निरखि सुखपाई॥"

श्रीकृष्ण बाल-सुलभ क्रीड़ा नित्य करते हैं। उनके इस बाललीला के बाल-मनोविज्ञानमय अनेक पद इन कवियों ने रचे हैं जो भक्तों को भावनाओं की मधुर लहरियों में झुलाते रहते हैं। श्रीकृष्ण किसी मनवांछित वस्तु के न पाने पर असन्तुष्ट होकर आँगन में लोट रहे हैं और मैया मना रही है—'कत हौ आरि करत मेरे मोहन यों तुम आँगन लोटी'। श्रीकृष्ण कभी चन्द्र-खिलौना के लिए मचल पड़ते हैं तो कभी नहाने के नाम पर भाग खड़े होते हैं। चोटी बढ़ने का बहाना करके माँ यशोदा ने उनको कितनी ही बार दूध पिलाया था—'मैया, कबहिं बढ़ैगी चोटी? किती बार मोहि दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी'। गोपियों के घर में जाकर दही-माँखन की चोरी तो उनकी ब्रज-बाललीला का एक प्रधान अंग है। गोपियाँ उलहना लेकर यशोदा के पास आती हैं। माँ यशोदा कृष्ण पर नाराज होती हैं, किन्तु उनकी मन-भावनी और चतुराईपूर्ण बातें सुनकर आनन्दमग्न भी हो जाती हैं—

'मैया मैं नहिं माखन खायौ।
ख्याल परैं ये सखा सबै मिलि, मेरैं मुख लपटायौ।
देखि तुही सींके पर भाजन, ऊचैं धरि लटकायौ।
हौं जु कहत नान्हें कर अपनैं, मैं कैसे करि पायौ।
मुख दधि पोंछि बुद्धि इक कीन्हीं, दोना पीठि दुरायौ।
डारि साँटि, मुसुकाइ जसोदा, स्यामहिं कंठ लगायौ।
बाल-विनोद-मोद मन मोह्यौ, भक्ति-प्रताप दिखायौ।
सूरदास जसुमति कौ यह सुख, सिव विरंचि नहिं पायौ॥'

'सूर' ने श्रीकृष्ण की इन्हीं बाल-लीलाओं को स्मरण कर वात्सल्य भाव में विभोर होकर कहा था—'धन्य सूर एकौ पल इहिं सुख, का सत कलप जिए।'

श्रीकृष्ण और बड़े होते हैं। गौवें चराने के लिये वन में जाने लगे। वन में ग्वाल-बाल के साथ अनेक प्रकार के खेल रचते हैं। ये ग्वाल-बाल उनके अन्तरंग सखा हैं। सख्यभाव की भक्ति में जीव प्रभु की शाश्वत लीला में भाग लेने का पूर्ण अधिकारी होता है। वहाँ जीव और ईश्वर में बराबरी का दर्जा है। भक्ति के इस भाव का भी निरूपण इन कवियों ने अपने पदों में बड़े सुन्दर ढंग से किया है। खेल में एक बार श्रीदामा ने श्रीकृष्ण को हरा दिया। इस पर श्रीकृष्ण क्रोध दिखलाते हैं। श्रीदामा की निर्भीकता को कवि इस प्रकार चित्रित करता है—

'खेलत में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे, जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति-पाँति तुमते कछु नाहिंन, नाहिंन रहत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जमावत यातैं, अधिक तुम्हारे हैं कछु गैयाँ॥'

श्रीकृष्ण और गोप-बालकों की पारस्परिक प्रेमपूर्ण क्रीड़ा के ऐसे अनेक पद इन कवियों की रचनाओं में मिलते हैं।

इन बल्लभ-सम्प्रदाय के भक्त कवियों की रचनाओं में श्रीकृष्ण के प्रति ब्रज-गोपियों के विशुद्ध प्रेम (कान्ताभाव की भक्ति) के भी समुज्ज्वल उदाहरण भरे पड़े हैं। कान्ता भाव के रति-भाव-जन्य-आनन्द के लौकिक और पारलौकिक दो पक्ष हैं। लौकिक पक्ष 'शृङ्गार रस' और पारलौकिक पक्ष 'मधुर रस' कहलाता हैं। 'मधुर रस' से परिपूर्ण होने के कारण इस कान्ताभाव की भक्ति को 'रागानुगा-भक्ति' अथवा 'माधुर्य भाव की उपासना' कहते हैं। माधुर्य भाव का प्रस्फुटन भक्ति की उच्च कोटि की अवस्था में होता है। आत्मसमर्पण भक्ति की जो अन्तिम अवस्था है वह इसी कान्ताभाव में पूर्ण होती मानी जाती है। भक्ति की इस अवस्था में पहुँच कर जीव स्त्रैणता और विलासिता की कल्पना तो क्या मोक्ष की भी इच्छा न कर सदैव प्रीतम (ईश्वर) के भाव में एकरस रहता है। इस शुद्ध प्रेम के सम्बन्ध में 'रसखान' लिखते हैं—

"दम्पति सुख अरु विषय सुख पूजा निष्ठा ध्यान।
इनते परे बखानिए सुद्ध प्रेम 'रसखान'॥
मित्र कलत्र सुबन्धु सुत इनमैं सहज सनेह।
सुद्ध प्रेम इनमैं नहीं अकथ कथा कहि एह॥
एक अंगी बिनु कारनहिं एकरस सदा समान।
गनै प्रियहिं सरबस्व जो सोई प्रेम प्रमान॥
डरै सदा चाहै न कछु सहै सबै जो होय॥
रहै एकरस चाहिकै प्रेम बखानौ सोय॥"

माधुर्य-प्रेम का यही विशुद्ध रूप ब्रज-गोपिकाओं की संयोग और वियोग की दोनों अवस्थाओं में पाया जाता है। कुछ लोगों का कहना है कि कान्ता भाव की उपासना में काम वासना की गंध है। गोपियों की उपासना सकाम थी।

भक्ति मार्ग के सिद्धान्त को समझने पर यहाँ इस धारणा का परिहार हो जाता है। भक्ति धर्म के अनुसार जीव भला या बुरा कैसा भी क्यों न हो भगवान के साथ जुड़कर वह स्वयं भगवत्मय हो जाता है। फिर यदि गोपियों का भाव सकाम भी रहा हो तो वह श्रीकृष्ण के साथ मिलकर निष्काम अवस्था को प्राप्त हो चुका था। दूसरे, माधुर्य भाव की भक्ति मर्यादामार्ग जैसी दास्य भक्ति नहीं है। मर्यादामार्ग में भक्त अपने इष्ट (भगवान) के आश्रित होता है जबकि कान्ता भक्ति में दोनों एकरूप होते हैं। यही कारण है कि राधा-कृष्ण के प्रसंग में भक्त कवियों ने अनेक बार दोनों को 'एक प्राण द्वै देह री' तथा गोपियों और कृष्ण को 'सोलह सहस परि तन एकै' कहकर अभिन्नता प्रकट की है। इसीसे भगवान के भक्तों ने उनके सौन्दर्य और आनन्द के सरस वर्णन निःसंकोच होकर किए हैं। 'नन्ददास' ने तो बड़ी दृढ़ता से कहा कि—

'रूप, प्रेम, आनन्द रस, जो कछु जग में आहि।
सो सब गिरिधर देव कौ, निधरक बरनौ ताहि।'

अष्टछाप के भक्त कवि सिद्ध कोटि के महात्मा थे। उन्होंने श्रीकृष्ण की रासक्रीड़ा, कुंजक्रीड़ा, वनविहार आदि के जो वर्णन किए हैं वह इसी माधुर्य भाव से प्रेरित होकर किए। कृष्ण की रासलीला भक्तों की दृष्टि में आत्माओं के साथ ब्रह्म की क्रीड़ा है। उसमें लौकिक श्रृङ्गाररस नहीं, अपितु भक्ति का मधुर रस है। कृष्ण साधारण नायक नहीं थे। गोपियों की दृष्टि में ब्रह्माण्ड-नायक थे—

'जाहि कहत तुम स्याम, ताहि कोउ पिता न माता।
अखिल अंड ब्रह्माण्ड विस्व उनहीं में जाता॥'

इन्हीं राधा और गोपिकाओं के प्रेम के भीतर भक्त कवियों की अन्तरात्मा छिपी है। इसका परिचय इनके ब्रजभाषा के पदों में मिलता है। 'सूर' का यह पद—

'नवल गुपाल, नवेली राधा, नये प्रेम-रस पागे।
अन्तर वन विहार दोउ क्रीड़त, आपु-आपु अनुरागे।
सोभित सिथिल बसन मनमोहन, सुखवत स्त्रम के पागे।
मानहु बुझी मदन की ज्वाला, बहुरि प्रजारन लागे॥
कबहुँक बैठि अंस भुज धरिकै, पीक कपोलन पागे।
अति रस-रासि लुटावत-लूटत, लालच लाल सभागे॥
नहिं छूटति रति-रुचिर भामिनी, वा रस में दोउ पागे।
मनहुँ 'सूर' कल्पद्रुम की सिधि, लै उतरी फल आगे॥'

पढ़कर कोई इसे भले ही शृङ्गारी काव्य कहे किन्तु 'सूर' का रति भाव यहाँ शुद्ध और पवित्र है। 'कल्पद्रुम की सिधि' लिखकर उन्होंने इस पद के भाव को अलौकिक बना दिया है। ये भक्त कवि श्रीकृष्ण की रूप-माधुरी पर मुग्ध हैं। गोपियाँ कहती हैं—

'अँखियन यह ई टेव परी।
कहा करों बारिज-मुख ऊपर लागति ज्यों भ्रमरी।'

इन भक्त कवियों के विरह सम्बन्धी पद में भी प्रेम की तीव्रता तथा प्रिय-मिलन की उत्कट लालसा है। वियोग की जितनी अन्तर्दशाएँ हो सकती हैं जैसे अभिलाषा, चिन्ता, स्मृति, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता आदि उन सभी के इन कवियों ने चित्रण किए हैं। 'सूर', परमानन्दास, कुम्भनदास, नन्ददास के विरह सम्बन्धी पद ब्रज-साहित्य की अनुपम निधि हैं। इनके पदों में विरह की भाव-व्यंजना तथा काव्य-सौष्ठव दर्शनीय है। इन्हीं अष्टछाप के कवियों द्वारा हिन्दी-साहित्य में भ्रमरगीतों की परम्परा का आरम्भ हुआ जिसमें गोपी-हृदय की विरह-विह्वलता तथा यशोदा के मातृ-प्रेम की उत्कटता का भावात्मक चित्रण है। पदों को पढ़कर आत्मविस्मृत हुए बिना नहीं रहता—

'गोपाल बिनु कैसे कैं ब्रज रहिबो ।
धूसर धूरि उठाय गोद लै लाला कौंन सों कहिबो ।।
जो मधुपुरी दिवस लागत है सोच सूल तन सहिबो ।
'परमानंद' स्वामी को तजिकें सरन कौंन की गहिबो ।।

मधुर-रस के विरह में गोपियों का सारा अहंभाव बह गया था । उनकी सारी काम वासना कृष्ण के संसर्ग में आने से नष्ट हो गई थी—

'लटकि लटकि जब ब्रजबाला लाला उर झूलीं ।
उलटि अनंग अनंग दह्यौ, तब सब सुधि भूलीं ।।'

इसीसे वृन्दावन की इस श्रीकृष्ण-लीला की दिव्यता और पवित्रता को कोई अधिकारी व्यक्ति ही समझता है—

'बिनु अधिकारी भएं नाहिं बृन्दावन सूझै ।
रेनु कहाँ तै सूझै जब लगि वस्तु न बूझै ।।
निपट निकट घट में जो अन्तरजामी आही ।
बिषै विदूषित इन्द्री पकरि सकै नहिं ताही ।।'

अष्टछाप के महामान्य कवियों तथा बल्लभ सम्प्रदाय के अन्य सहस्त्रों भक्त कवियों ने अपने गेय पदों द्वारा उस समय उत्तरी भारत के लोक-मानस में कृष्ण भक्ति के प्रति प्रबल आस्था भर दी थी । साहित्य और संगीत की योजना से वल्लभाचार्य के भक्तिधर्म को इन लोगों ने रूपवान बना दिया था । कृष्णभक्ति पर उनकी ये रचनाएं ही ब्रजभाषा की कविता है जो उनकी शुद्ध भक्तिभावना की प्रतिमूर्ति है । उनकी इस ब्रजभाषा की कविता ने कई सौ वर्षों तक हिंदुओं की धार्मिक एवं सांस्कृतिक भावना की रक्षा की । खेद है कि इन ब्रजभाषा के भक्त कवियों का समस्त साहित्य अभी भी प्रकाशित नहीं हुआ है । इन कवियों द्वारा ब्रजभाषा का जो संस्कार हुआ वह स्तुत्य है । ब्रजभाषा को समुन्नतकर

देश व्यापिनी बनाने का यह गौरव इन्हीं कवियों को है। इनके हाथों में पड़कर यह जैसी मँजी और मनोहर बनी वह सर्व विदित है। स्वभाव से मधुर तो वह थी ही पर सूर, हितहरिवंश जैसे रससिद्ध कवियों ने अपनी संगीत लहरी में उसे ढालकर और भी मधुर बना दिया। उसकी कोमल पदावली मधुर-रस से परिपूर्ण कृष्णलीला गान के सर्वथा अनुकूल सिद्ध हुई और इसी लीला गान से लगी वह उत्तरी भारत में सब जगह फैली। राजस्थान का पिंगल-साहित्य कृष्ण-भक्ति प्रधान हो गया। कृष्णदास पैहारी, मीराबाई, नागरीदास, हित वृन्दावन-दास, ब्रजनिधि आदि कृष्णोपासक कवियों की रचनाएँ ब्रजभाषा में हैं। कृष्ण-भक्ति की वेगवती लहर जब महाप्रभु चैतन्य द्वारा बंगाल में उठी तो यहाँ के वैष्णव-भक्तों ने गेय पदों की रचनाएँ 'ब्रजबुली' में कीं। विद्वानों की ऐसी धारणा थी कि यह 'ब्रजबुली' ब्रजप्रदेश की ब्रजभाषा का ही एक परिवर्तित रूप है जिसे बंगाली वैष्णव वृन्दावन से लाए थे। इस स्वीकृत मत का खण्डन अब विद्वानों द्वारा किया गया है। विद्वानों ने 'ब्रजबुली' को मैथिली भाषा का रूपान्तर प्रमाणित किया है। पर जब स्वयं मैथिली कविता ब्रजभाषा से प्रभावित है तब यह नहीं कहा जा सकता कि बंगाल का यह वैष्णव साहित्य ब्रजभाषा से बिल्कुल अछूता रहा। वैष्णव भक्तों के इन पदों को देखते हुए भारतेन्दु बाबू ने कहा था—'बंगाली विद्वानों में इस विषय में अनेक वादानुवाद है, किन्तु हमको ऐसा निश्चय होता है कि इन कवियों ने ब्रजभाषा में ही कविता करने की चेष्टा की हो तो क्या आश्चर्य है।' श्री सुकुमारसेन गुप्त ने अपनी पुस्तक 'ए हिस्ट्री आव ब्रजबुली' १९३५ ई० में पृष्ठ १०२ पर वैष्णव भक्त 'कृष्णदास' के पदों के लिये और पृष्ठ १७९ पर 'श्यामदास' के कुछ पदों के लिये लिखा है कि वे ब्रजभाषा मिश्रित हैं। इसलिये यह कहा जा सकता है कि बंगाल के वैष्णव कवियों की भाषा और साहित्य का सीधा सम्बन्ध मैथिली भाषा और साहित्य से रहने पर भी उन पर ब्रजभाषा का प्रभाव स्पष्ट है। ब्रजभाषा के प्रभाव से पंजाब प्रान्त भी नहीं बच पाया था। गुरु नानकदेव तथा गुरु गोविन्द-सिंह की रचनाओं में ब्रजभाषा का आधिक्य है। गुजरात प्रान्त में बल्लभाचार्य के 'पुष्टिमार्ग' की प्रबलता के कारण ब्रजभाषा का प्रचार हुआ। नरसी मेहता ने अपने पद ब्रजभाषा में गाए।

कृष्ण-भक्ति के सभी सम्प्रदायों में उच्चकोटि के भक्त कवि हुए हैं, जिन्होंने प्रेम में उन्मत्त होकर अपनी रचनाएँ ब्रजभाषा में की हैं। कृष्ण-भक्तों को चाहे वे किसी भी प्रान्त के हों, तब तक सन्तोष ही न होता था जब तक कि वे उनका लीलागान ब्रजवाणी में न कर लेते थे। डा० बड़थ्वाल ने एक स्थल पर लिखा है—'सहृदय भक्तमात्र बिना किसी प्रान्तभेद के, तब तक अपनी वाणी की सार्थकता नहीं मानते थे, जब तक कृष्ण की जन्मभूमि की भाषा में ही भगवान के सम्मुख आत्मनिवेदन न कर लेते थे। नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, नरसी-मेहता, चन्डीदास आदि सब मराठी, गुजराती, बंगाली संतों ने ब्रजभाषा में अपने हृदय के उद्‌गारों को प्रकट किया है'। यह सही है कि ब्रजभाषा ने जितना कृष्ण के जीवन को अपनाया है उतना किसी दूसरी भाषा ने नहीं। डा० राजेन्द्रप्रसाद ने अपने एक लेख में बड़े सुन्दर ढंग से इस आशय को इस भाँति व्यक्त किया है—

> 'ब्रजभाषा का तो उनकी (कृष्ण की) लीला से इतना तादात्म्य हो गया है कि उनके लीलागान से पृथक् भी इसका अपना अस्तित्व है, इस बात का ज्ञान केवल इने-गिने कुछ लोगों को ही होगा। ब्रजभाषा की बात कीजिए, और तुरन्त सबके मन में 'मैया मैं नहिं माखन खायो' प्रतिध्वनित होने लगेगा। मैं नहीं जानता कि किसी अन्य बोली का भी किसी महाविभूति की जीवन लीला से इतना तादात्म्य है। मेरी जानकारी में तो यह गौरव ब्रजभाषा को ही प्राप्त है।'

इसमें संदेह नहीं कि ब्रजभाषा के देशव्यापिनी होने का सबसे बड़ा हेतु कृष्णभक्ति थी—

> 'ब्रजभाषा भाषा ललित कलित कृष्ण की केलि।
> या ब्रजमण्डल में उगी ताकी घर-घर वेलि॥
> ह्यीं से चहुंदिसि विस्तरी पूरब पच्छिम देश।
> उत्तर दक्षिण लों गई ताकी छटा असेस॥'

इसलिए ब्रजभाषा की श्रीवृद्धि में केवल ब्रजवासियों का ही हाथ नहीं है। इतर प्रान्त—गुजरात, राजस्थान, पंजाब, बंगाल, महाराष्ट्र आदि के निवासियों ने भी अपनी रमणीय रचनाओं से ब्रजभाषा-साहित्य के भण्डार को भरा और उसके उत्कर्ष में पूर्ण सहयोग दिया है।

रामभक्ति और ब्रजभाषा

भगवान श्रीकृष्ण की लीला ने ब्रजभाषा को गौरवान्वित तो किया ही, किन्तु 'श्रुति-माधुरी' की उसकी विशिष्टता ने उसको और भी व्यापक बनाया। ऐसा प्रतीत हुआ मानों वह कविता और संगीत के लिए ही गढ़ी गई हो। इसीसे उसको कविता में रामभक्ति शाखा के भक्त कवियों ने तथा इस काल के फुटकल अन्य कवियों ने भी अपने लौकिक काव्य में अपनाया है। ब्रजभाषा में रामभक्ति शाखा के कवियों में तुलसीदास, स्वामी अग्रदास, नामदास और हृदयराम मुख्य हैं। फुटकल कवियों में गंग, रहीम, केशव, सेनापति आदि प्रमुख हैं। गोस्वामी तुलसीदास ने रामगाथा पर विनयपत्रिका, गीतावली, कवित्तरामायण आदि की रचना ब्रजभाषा में की है। रामगाथा और कृष्णगाथा भारतीय जन-जीवन के ऐसे दो दृढ़ स्तम्भ हैं जिनपर हमारा इतिहास एवं संस्कृति टिकी हुई है। इन दो अमरगाथाओं को अपने क्रोड़ में लेकर ब्रजभाषा स्वयं अमर हो गई है।

मुसलमान भक्त कवि और ब्रजभाषा

कृष्णभक्ति की इस पावन धारा में हिन्दू तो आकंठ निमग्न हुए ही, लेकिन इस भक्ति में प्रेम और सौंदर्योपासना की प्रधानता ने विजातीय धर्म वालों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। उस समय बहुत से मुसलमान कृष्ण-भक्त बने। ये मुसलमान भक्त दो प्रकार के थे। एक तो वे जो श्रीराधा-कृष्ण की छवि-माधुरी पर अपना सर्वस्व लुटाकर सदैव के लिए उन्हीं के हो गए थे। इस सम्बन्ध में 'रसखान' का नाम विशेष उल्लेखनीय है। ये दिल्ली के पठान थे। इनकी श्रद्धा और निष्ठा श्रीराधा-कृष्ण पर इतनी थी कि इन्होंने इस्लाम

धर्म को छोड़ कर वैष्णवधर्म को अंगीकार कर लिया। इन्होंने स्वयं कहा है—

'देखि गहर हित साहिबी दिल्ली नगर मसाँन।
छिनहिं बादसा बंस की ठसक छोरि 'रसखाँन'।
प्रेम निकेतन श्रीबनहिं आइ गोबर्धन धाम।
लह्यो सरन चित चाहि कैं जुगल स्वरूप ललाँम॥
तोरि मानिनी तें हियौ, फोरि मोहिनी माँन।
प्रेम-देव की छबिहिं लखि भए मियाँ रसखाँन॥'

और अपने इष्टदेव श्रीराधा-कृष्ण से यह कामना की कि—

'मानुस हों तो वही 'रसखान' बसौं मिलि गोकुल गोप-गुवारन।
जो पसु होउँ तो कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मझाँरन॥
पाहन हों तो वही गिरि कौ, जु कियो ब्रज-छत्र पुरंदर कारन।
जो खग होउँ तो बसेरों करौं, वही कालिंदी-कूल-कदम्ब की डारन॥'

'रसखान' की भाँति 'ताज' जो मुसलमान वंश की स्त्री थीं इसी कृष्णभक्ति के रंग में रंगी हुई थीं। इन्होंने भी पुकार कर कहा था—'नंद के कुमार कुरवान ताँणी सूरत पै, ताँण नाल प्यारे हिन्दुवानी ह्वै रहूँगी मैं।'

कृष्णभक्ति-शाखा के दूसरे प्रकार के मुसलमान भक्त कवि वे थे जो श्री-राधाकृष्ण की युगल माधुर्यमयी छवि के पीछे बरबस पागल तो थे पर स्वधर्म को नहीं छोड़ा था। इस प्रकार के कवियों में 'रहीम' और 'प्रेमी' के नाम प्रमुख हैं। 'रहीम' के चित्त का भाव उनके इस पद में देखा जा सकता है—

'कमल-दल नेंनन की उँनमाँनि।
बिसरत नाहि सखी मो मन तें, मंद-मंद मुसुकाँनि॥
यै दसनँन-दुति चपला हूँ ते, महा चपल चमकाँनि।
बसुधा को बस करी मधुरता, सुधा-पगी बतराँनि॥

चढ़ी रहै चित उर बिसाल की, मुकुत-माल पैहराँनि ।
नृत-समें पीताम्बर हू की, फैहरि-फैहरि फँहराँनि ।।
अनुदिन श्री वृन्दावन में ते, आवन-जावन जाँनि ।
अब 'रहीम' चित तें न टरति है, सकल स्याँम की बानि।।'

इस प्रकार के सैकड़ों मुसलमान भक्त कवि हुए हैं जिन्होंने कृष्ण गाथा को लेकर अपनी अमर रचनाएँ ब्रजभारती को भेंट की हैं । इन्हीं मुसलमान कवियों की रचनाओं को देखकर भारतेन्दुबाबू ने यह कहा था—'इन मुसलमान हरि-जनन पै; कोटिक हिन्दू वारिए' ।

मुगलनीति और ब्रजभाषा

ब्रजभाषा-साहित्य के उत्कर्ष में तत्कालीन मुगल सम्राटों की उदार धार्मिक नीति भी सहायक हुई । मुगल, अफगान और तुर्क शासकों से एक तो सभ्य और सुसंस्कृत थे, और दूसरे इन लोगों ने उस प्रकार की दमन नीति का अनुसरण नहीं किया जैसा कि सिकन्दर लोदी आदि सुल्तानों ने किया था । सिकन्दर लोदी की धार्मिक कट्टरता ने मथुरा को उजाड़ बना दिया था । मथुरा के सम्पूर्ण मंदिरों को नष्टकर उनपर उसने सराएँ बनवा दी थीं । हिन्दुओं को धार्मिक कार्य करने की पूरी मनाही थी । इतने पर भी हिन्दू अपनी धर्म-निष्ठा से विच-लित न हुए थे । मुगलकाल में अनुकूल वातावरण मिलते ही मथुरा-वृन्दावन वैष्णवधर्म का पुन: केन्द्र बन गया । अकबर बादशाह की धार्मिक उदारता की चरचा 'आइने-अकबरी' में अबुलफजल ने इस प्रकार की है—'बादशाह को चाहिए कि वह सम्पूर्ण धार्मिक मतभेदों से अलग हो; और उसको यह ध्यान रखना चाहिए कि उसका न्याय जिसका अधिकारी समान रूप से समाज का प्रत्येक धर्मावलम्बी वर्ग है किसी भी प्रकार धार्मिक पक्षपात से प्रभावित न हो । उसके साम्राज्य में सब धर्मवालों को प्रसन्नतापूर्वक बिना किसी भेदभाव

और रुकावट के अपने धार्मिक कार्य करने का अधिकार होना चाहिए।[1] एक बार अकबर ने एक पत्र फारस के शाह अब्बास सफवी को लिखा था। इस पत्र में उसकी धार्मिक सहिष्णुता की पूरी झलक मिलती है। उस पत्र का आशय इस प्रकार है—'विभिन्न धर्मावलम्बी समाज ईश्वरी सृष्टि की अनेक रूपता का एक नमूना है। इसका संरक्षक बादशाह होता है। बादशाह का कर्त्तव्य है कि वह उनका आदर करे और यह विश्वास करे कि वे ईश्वर की इच्छा से ही निर्मित हैं। ईश्वर की कृपा जब बिना किसी भेद-भाव के समान रूप से सब धर्मों पर बरस रही है, तब बादशाह को, जो ईश्वर का प्रतिनिधि है, उसके इस शाश्वत नियम का आदर करना चाहिए'।[2] अकबर के उत्तराधिकारी शासकों—जहाँ-

---

1. 'The King should be above all religious differences and should see, that religious considerations do not come in the way of the duty which he owes to every class & every community. Under his all-embracing care every one should find peace and happiness so that the benefits confined by the shadow of God are universal.'

—The National culture of India by Husain, S.A.

2. 'The various religious communities are divine treasures entrusted to us by God. We must love them as such. It should be our firm faith that every religion is blessed by Him, and our earnest endeavour to enjoy the bliss of the ever-green garden of Universal toleration. The Eternal King showers his favours on all men without distinction. Kings who are shadows of God should never give up this principle.'

—The National Culture of India by Husain, S.A.

गीर और शाहजहाँ ने भी इसी उदार धार्मिक नीति से काम लिए थे। इसीसे मथुरा-वृन्दावन, उनकी राजधानी आगरा के सन्निकट होने पर भी, हिन्दू-जीवन का धार्मिक केन्द्र बन सका और अनेक प्रतिभाशाली भक्त कवियों ने आकृष्ट होकर ब्रजमण्डल को अपना निवास स्थान बनाया, और वहीं की भाषा (ब्रजभाषा) में उन्होंने अपने आराध्यदेव श्रीराधा-कृष्ण का लीलागान किया। इन्हीं कवियों की प्रतिभा ने ब्रजभाषा को प्रांजलता, मनोहरता एवं सरसता प्रदान की थी जिससे वह हिन्दी-जगत के लिए गौरव की वस्तु बनी।

मुगल काल की विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि इन बादशाहों की स्वयं की रुचि ब्रजभाषा की ओर थी। अनेकों ने ब्रजभाषा में सरस रचनाएँ कीं। इसके अतिरिक्त इन बादशाहों ने अन्य भाषा के ग्रन्थों का अनुवाद भी ब्रज-भाषा में कराया है। जैसे, शाहजहाँ ने 'शिरोमनि' कवि से धनंजय कृत 'नाम-माला कोष' का अनुवाद ब्रजभाषा में कराया था। कवि ने उस अनुवाद का नाम 'उरबसी' दिया है। कवि स्वयं लिखता है—

"तिनके पण्डित कवि बहुत अपनें-अपनें ग्यान।
बोंलि 'सिरोमनि' कों निकट दई दिल्लीपति आन॥
यातें यह पोथी सरस करी आपने जान।
साहिजहाँ कों रस बढ़्यों अरु जसु बढ्यों जहाँन॥
'नामहि की माला' हुती प्रथम धनंजय कीन्ह।
सोई भाषा में करी नाउ 'उरबसी' दीन्ह॥"

मुगल सम्राट संगीत के भी प्रेमी थे। संगीत को उनसे प्रोत्साहन और संर-क्षण मिला था। सरस संगीत के लिए ब्रजभाषा जितनी उत्कृष्ठ और रसीली लगती है उतनी अन्य भाषा नहीं। इससे भी ब्रजभाषा का समादर और प्रवेश मुगल तथा अन्य राज-दरबारों में हुआ था। अकबर का दरबार तानसेन जैसे ब्रजभाषा के कवि व गायक से सुशोभित था, इसके सिवा कवियों को भी इन दरबारों में राजाश्रय प्राप्त होता था। अकबरी दरबार के नरहरि, गंग, रहीम

आदि की गणना ब्रजभाषा के श्रेष्ठ कवियों में है। मुगलसम्राटों की ब्रजभाषा की कविता और संगीत में अभिरुचि तथा ब्रजभाषा के कवियों को राजाश्रय ने ब्रजभाषा-साहित्य को खूब प्रोत्साहित किया। मुगलों के शासनकाल में देश में जो शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित हुई तथा उन सम्राटों ने जो धार्मिक सहिष्णुता दिखलाई उससे हिन्दुओं की उस नवजागृति की लहर को जो अफगान युग में प्रारम्भ हुई थी अधिक बल मिला। कला, साहित्य, संगीत, धर्म, आदि सभी क्षेत्रों में उस समय भारत ने असाधारण उन्नति की। इसीसे मुगलकाल ब्रजभाषा-साहित्य के लिए स्वर्णयुग माना जाता है।

मुगलवंश के अंतिम शक्तिशाली सम्राट औरंगजेब की हिन्दू-विरोधी संकीर्ण और अनुदार नीति ने ब्रज को पुन: बरबाद किया। उसने आज्ञा दी कि 'काफिरों के सारे मंदिर, पूजाघर, पाठशालाएँ आदि तोड़ दी जावें और उनके धार्मिक पठन-पाठन एवं पूजापाठ पूरी तरह बन्द कर दिए जावें।' मथुरा के अनेक मन्दिर जिसमें केशवराय का सुप्रसिद्ध विशाल मन्दिर भी था, निर्दयता से विध्वंस कर दिये गए। उसके इस नीति का परिणाम न केवल मुगल साम्राज्य के लिए अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए अहितकर हुआ। हिन्दुओं और मुसलमानों के पारस्परिक सम्बन्ध में मनमुटाव व कटुता पुन: बढ़ने लगी। चारों ओर विद्रोह की आग भड़क उठी। मथुरा के समीप जाटों ने, नारनौल के समीप सतनामी सम्प्रदाय के अनुयायियों ने, पंजाब में सिक्खों के गुरु तेगबहादुर, राजस्थान में दुर्गादास राठौर के नेतृत्व में राजपूतों ने, दक्षिण भारत में शिवाजी के नेतृत्व में मराठों ने विद्रोह किए। देश में चारों ओर अशान्ति छा गई। साहित्य कला आदि की उन्नति में भी व्यवधान पड़ गया। औरंगजेब के बाद उसके उत्तराधिकारियों ने स्थिति को सुधारने का प्रयत्न किया, पर परिस्थिति की विषमता न मिट सकी। इसी बीच विदेशी लुटेरों नादिरशाह और अहमदशाह अब्दाली ने भारत पर आक्रमण किए। इससे उत्तर भारत की रही-सही राजनीतिक शांति और बिगड़ गई। नादिरशाह के सिपाही मथुरा-वृन्दावन तक पहुँचे। इन लोगों ने शहर को लूटा और अत्याचार किया। इन्हीं सिपाहियों ने भक्त कवि 'घनानन्द' का रुपया न देने पर क्रुद्ध होकर हाथ काट लिया था जिससे

उनकी मृत्यु हो गई। अहमदशाह अब्दाली ने मथुरा नगर को नेस्तनाबूद करने तथा काफिरों के सिर काट डालने की आज्ञा दी। अब्दाली स्वयं मथुरा गया था और महावन में डेरा डाले था। इस लुटेरे के हाथ ब्रज की भीषण बरबादी हुई थी। इस विषम परिस्थिति में भी ब्रजभाषा को संरक्षण हिन्दू राजाओं तथा अमीर उमराओं से मिला। इनके आश्रय में वह फूलती-फलती रही।

कृष्णभक्ति आन्दोलन का प्रभाव

भारत के राजनीतिक पराभव और सांस्कृतिक विध्वंस का यह काल (भक्तिकाल) हमारे इतिहास में असाधारण है। इस काल की विषम परिस्थिति में विलक्षण ढंग से हिन्दुओं में एक नवीन चेतना और धार्मिक जाग्रति उत्पन्न हुई। इस काल में भक्ति आन्दोलन की जो लहर चली उसने समस्त भारत को आध्यात्मिक एकता के सूत्र में बाँधने का प्रयत्न किया। आपसी फूट एवं साम्प्रदायिकता के कारण वैष्णवधर्म के आचार्यों को इसमें पूर्ण सफलता न मिली, पर सबसे सन्तोष की बात यह हुई कि वैष्णवधर्म की सहानुभूति, प्रेममार्ग की व्यापकता एवं उदारता ने तत्कालीन राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक विषमता से उत्पन्न परिस्थिति में काफी शांति उत्पन्न कर दी। रामानन्द, चैतन्य महाप्रभु तथा बल्लभसम्प्रदाय ने भगवत शरणागत मुसलमानों तक को स्वीकार करके अपनी उदारता का परिचय दिया। इस्लामधर्म के अनुयायियों ने भी भक्तिभावना की इस उदारता का स्वागत और आदर किया। कितने मुसलमानों ने अपने धर्म में रहते हुए कृष्ण-राम के गुण गाए। तात्पर्य यह कि भक्ति धर्म हिन्दुओं और मुसलमानों की आपसी कटुता को कम कर उनको एक दूसरे के निकट लाने में बहुत कुछ सफल हुआ।

भक्ति आन्दोलन ने हिन्दुओं को उस समय मानसिक सुख और शान्ति प्रदान की जब वे विजेताओं के धार्मिक एवं अन्य कठोर अत्याचारों को सहन करने के लिए बाध्य थे। कृष्णभक्ति का प्रेममार्ग उनके जीवन को सरस, मधुर, सुखी और उदार बनाने में पूर्ण सफल हुआ।

शताब्दियों से बौद्धों, दार्शनिकों, सिद्धों, नाथ गुरुओं तथा निर्गुण सन्तों की शुष्क तर्क प्रतिपादित बातें सुनते-सुनते लोग ऊब गए थे । जनता रसानुभूति चाहती थी। भक्तिधर्म के आचार्यों एवं कवियों ने भगवान की सगुण लीला-गान द्वारा जिस प्रेमरस का आस्वादन उनको कराया उससे उनका मानस रससिक्त और तृप्त हो गया। राधा-कृष्ण जैसे सरस और मधुर आलम्बन को पाकर भक्त कवियों ने अपनी रचनाओं में ऐसा रस उड़ेला जिसने उस समय स्वधर्मी और विधर्मी सबको परिप्लावित कर दिया।

इस भक्ति आन्दोलन का सबसे बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि धार्मिक भावों की प्रेरणा से ब्रजभाषा की अभूतपूर्व उन्नति हुई। भक्त कवि सूर, तुलसी आदि ने भगवान का गुणगान इसी भाषा के माध्यम से किया। इससे इसकी श्रीवृद्धि हुई और यह उन्नति की पराकाष्ठा तक पहुँच गई। इन्हीं भक्त कवियों ने उसको प्रांजलता, मनोहरता, कोमलता एवं सरसता प्रदान की। तात्पर्य यह कि ब्रज-भाषा को धार्मिक संस्कार की विभूति और काव्य-गरिमा इन्हीं भक्त कवियों द्वारा इस काल में प्राप्त हुई। ब्रजभाषा का यह भक्ति साहित्य इन कवियों द्वारा ऐसे समय में निर्मित हुआ और हिन्दू-संस्कृति की रक्षा की जब इस्लामधर्म का खूनी खंजर हिन्दुओं की गर्दन पर लपलपा रहा था। ब्रजभाषा-काव्य में कृष्ण-भक्ति का दृढ़ अवलम्बन पाकर लड़खड़ाती हिन्दू-संस्कृति और धर्म उस समय बच गए। कृष्णभक्ति के संयोग से ब्रजभाषा की उन्नति तो हुई-ही, पर उसका प्रभुत्व साहित्य में इतना अधिक बढ़ गया कि जितनी श्रेष्ठ रचनाएँ इस काल में हुईं वे सब ब्रजभाषा में हैं।

ब्रजभाषा-गद्य

ऊपर के वर्णन से यहाँ इतना स्पष्ट हो जाता है कि ब्रजभाषा का प्रसार और प्रभाव इस भक्तिकाल में कृष्णभक्ति की भावुकता को लेकर हुआ है। 'भावु-कता' को व्यक्त करने में पद्य का जो स्थान है वह गद्य का नहीं हो सकता।

दूसरे, यदि कुछ विद्वानों ने अन्य विषय—ज्योतिष, वैद्यक, गणित, भूगोल, शालहोत्र आदि की स्थूल सामग्री को लेकर कुछ लिखा भी है तो वह भी उन लोगों ने पद्य-वद्ध कर दिया है। वे यह सोचते थे कि पद्य में उनकी रचनाएँ चिर-स्थाई रहेंगी। तीसरे, जिस समय ब्रजभाषा का साहित्यिक विकास हुआ वह मुसलमानों का शासन-काल था। राजकीय शासन की भाषा फारसी थी। ब्रजभाषा को सम्यक् विकास का इसलिए और भी अवसर न मिला। चौथे' ब्रजभाषा में गद्य का समुचित विकास न होने में परम्परागत कमजोरी भी थी। ब्रजभाषा की पूर्ववर्ती भाषाओं—अपभ्रंश, संस्कृत आदि के साहित्य में भी गद्य निर्माण की परम्परा उतनी अच्छी नहीं रही है जितनी कि पद्य की। इसका प्रभाव ब्रजभाषा पर भी पड़ा है। इन्हीं कारणों से ब्रजभाषा में गद्य-साहित्य का अभाव है और उसमें उसकी अनवरत परम्परा नहीं चली।

भक्तिकाल में ब्रजभाषा-गद्य प्रधानतः धार्मिक प्रवृत्तियों को लेकर लिखा गया है। जिस प्रकार भक्त कवियों द्वारा ब्रजभाषा-पद्य को प्रश्रय मिला और उसकी उन्नति हुई, उसी प्रकार ब्रजभाषा-गद्य का निर्माण भी इन्हीं भक्तों द्वारा हुआ है। इधर हिन्दी की प्राचीन पुस्तकों की खोज में एक 'गोरखसार' नामक ग्रन्थ गद्य में प्राप्त हुआ है। इसका रचनाकाल लगभग १४०० वि० है। इसकी भाषा ब्रजभाषा है—

> 'सो वह पुरुष संपूरन तीर्थ स्नान करि चुकौ अरु संपूरन पृथ्वी ब्राह्मननि कों दै चुकौ अरु सहस्र जग्य करि चुकौ....'।

भाषा अव्यवस्थित होते हुए भी यह ब्रजभाषा-गद्य का एक प्राचीन रूप है। इसके उपरान्त हमें कृष्णभक्ति शाखा के भीतर गद्य ग्रन्थ मिलते हैं। इन ग्रन्थों में मुख्यतः वैष्णव आचार्यों एवं भक्तों की वार्ता तथा श्रीकृष्णचन्द्र की लीला का वर्णन है। श्री बल्लभाचार्य के पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी का लिखा हुआ 'शृंगाररस-मंडन' नामक एक ग्रन्थ मिला है। इसमें श्रीकृष्ण की लीला का वर्णन है। इसकी भाषा भी विकृत है। इसके पश्चात् गोस्वामी विट्ठलनाथ जी के पुत्र

गोस्वामी गोकुलनाथ ने दो सौ बावन और चौरासी वैष्णवों की वार्ता नामक दो ग्रन्थ लिखे। नागरीप्रचारिणी सभा, काशी की सन् १९३२–३४ की त्रैवार्षिक खोज की रिपोर्ट द्वारा श्रीगोकुलनाथ के लिखे इन ग्रंथों—'वनयात्रा', 'पुष्टिमार्ग के वचनामृत', 'रहस्यभावना', 'सर्वोत्तमस्तोत्र', 'सिद्धान्तरहस्य' और 'वल्लभाष्टक' के मिलने का भी पता चला है। गोस्वामी गोकुलनाथ जी ब्रजभषा-गद्य के प्रसिद्ध लेखक माने जाते हैं। इनकी भाषा मधुर एवं व्यवस्थित है। श्री विट्ठलनाथ और श्री गोकुलनाथ के लगभग समसामयिक श्री हरिराय जी हुए हैं। इनका समय संवत् १६४७–१७७२ वि० है। इन्होंने भी ब्रजभाषा-गद्य में अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। श्री गोकुलनाथ जी के पश्चात् श्री हरिराय जी द्वारा ब्रजभाषा-गद्य की सर्वाधिक उन्नति हुई है। नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की सन् १९०९-११ और १९३२-३४ की खोज रिपोर्टों में इनके द्वारा लिखे गए जिन ग्रंथों का उल्लेख है उनके नाम हैं—'श्री आचार्य महाप्रभून की द्वादस निज वार्ता', 'श्री आचार्य महाप्रभून की निज वार्ता', 'श्री आचार्य महाप्रभून की घरूवार्ता', कृष्णप्रेमामृत', 'पुष्टिदृढ़ावन की वार्ता', 'पुष्टिप्रवाह मर्यादा भेद', 'सेवाविधि', 'वर्षोत्सव की भावना' और 'भाव-भावना'। 'भाव-भावना' में गद्य का स्वरूप इस प्रकार है—

> 'सो पुष्टिमार्ग में जितनी क्रिया हैं सो सब स्वामिनी जी के भाव ते हैं। तातें मंगलाचरन गावें। प्रथम श्री स्वामिनी जी के चरन-कमल कों नमस्कार करत हैं जिनकी उपमा दैबे कों मन दसों दिसा दौर्‌यो। परन्तु कहूँ पायौ नाहीं।'

संवत् १६५७ के आसपास नाभादास ने 'अष्टयाम' की रचना की है। इसमें राम की दिनचर्या का वर्णन है। बनारसीदास ने संवत् १६६८ के आसपास 'बनारसी विलास' लिखा है। संवत् १६८० के लगभग वैकुण्ठमणि शुक्ल ने 'अगहन महात्म्य' और 'वैशाख महात्म्य' की रचना ओरछा के राजा यशवन्तसिंह की रानी चन्द्रावती की आज्ञा से किया था। ब्रजभाषा-गद्य की

और भी इस प्रकार की रचनाएँ भक्तिकाल में हुई अवश्य होंगी, जो हो सकता है खोज-ढूँढ़ के पश्चात् अभी प्रकाश में आएँ पर, गद्य का प्रचलन अधिक न होने से ब्रजभाषा-गद्य की विशेष उन्नति न हुई।

अध्याय ४

ब्रजभाषा का उत्कर्ष काल

सन् १५०० से १८०० ई० तक

(ख) रीतिकाल : सन् १७००—१८०० ई०

रीतिकाल जिसे हिन्दी-साहित्य के इतिहास में अलंकार-युग अथवा कला युग भी कहते हैं ब्रजभाषा के उत्कर्ष का द्वितीय चरण है। पिछले पृष्ठों में हम यह देख चुके हैं कि ब्रजभाषा अपने उत्कर्ष के प्रथम चरण (भक्तिकाल) में ही समुन्नत हो चुकी थी। भक्त कवियों ने उसे माँज-घिस कर इस प्रकार प्रांजल और सुव्यवस्थित कर दिया था कि वह कोमल से कोमल भावों को प्रकट करने की सामर्थ्य रखती थी। अब इस द्वितीय चरण में उसकी श्री-वृद्धि हुई। इस काल के कवियों और आचार्यों ने उसे काव्य-कला से युक्त किया।

भक्ति से रीति की ओर

रीतिकालीन ब्रजभाषा-काव्य के विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं, पर यह निर्विवाद कहा गया है कि इस काल में ब्रजभाषा-काव्य की प्रवृत्ति शृंगार-मूलक थी। भक्ति से शृंगार की ओर ब्रजभाषा-काव्य का झुकाव होना उसके उत्कर्ष के इस द्वितीय चरण की विशेषता है। शृंगार में ब्रजभाषा-काव्य का परिवर्तित होना अनायास और सहसा नहीं हुआ था। भक्तिकाल में ही शृंगारिक रचनाओं का उसमें समावेश हो चला था। जयदेव की शृंगार-भावना से प्रभावित होकर विद्यापति ने हिन्दी में राधा-कृष्ण सम्बन्धी भक्तिपूर्ण शृंगारिक रचना का प्रारम्भ कर दिया था। भक्तिकाल में प्रेममार्गी सूफी सन्तों जैसे जायसी आदि का काव्य भक्ति की रहस्यभावना से युक्त होने पर भी शृंगारिक है। निर्गुणवादी सन्त कबीर आदि की रचनाओं में भी शृंगार रस का खूब प्रयोग हुआ है 'राम की बहुरिया'[1] कबीर ने मृत्यु को प्रीतम से मिलने का साधन मानकर उसका वर्णन इस प्रकार शृंगारिक भाषा में किया है—

'आई गवनवाँ की बारी, उमिरि अबहीं मोरी बारी।
साज समाज पिया लै आये, और कहरिया चारी॥
बम्हना बेदरदी अचरा पकरि के, जोरत गँठिया हमारी।
सखी सब गावत गारी॥'
गवन कराय पिया ले चाले, इत उत बाट निहारी।
छूटत गाँव नगर से नाता, छूटे महल अटारी॥
करमगति टरै न टारी॥

१—'हरि मोर पीव मैं राम की बहुरिया।
राम मोर बड़ा मैं तन की लहुरिया॥'

इसी प्रकार वैष्णव भक्त कवियों ने राधा-कृष्ण की मधुरभाव से युक्त संयोग-वियोग की लीलाओं के मर्मस्पर्शी वर्णन में अपनी सारी शक्ति लगा दी थी। यद्यपि वह लीलागान उन भक्त कवियों ने पवित्र भावना से प्रेरित होकर ही किया था, पर उस सत्य को समझकर ग्रहण करना सर्वसाधारण के लिए संभव न था। साधारण लोगों को उसमें वासना की गंध ही अधिक मिली। इसी के परिणाम स्वरूप राधा-कृष्ण में भक्त-भगवान के सम्बन्ध की भक्तिकालीन पूत भावना तिरोहित होकर रीतिकाल में कोरे नायिका-नायक के सम्बन्ध की व्यंजना होने लगी। वैसे राधा-कृष्ण के सुमिरन का बहाना तो रीतिकाल के कवियों ने भी किया है पर इसकी आड़ में उन्होंने पोषण किया है वासना जनित लौकिक शृंगार का ही। इन लोगों ने इस सत्य को स्पष्टतया इन शब्दों में स्वीकार किया है—

'रीझि हैं तो कविताई है
नहीं तो राधा कन्हाई सुमिरन को बहानों है।'

ब्रजभाषा काव्य का उद्देश्य बदलकर इस युग में जो शृंगारिक हो गया उसमें तत्कालीन राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों का प्रत्यक्ष प्रभाव भी है। हिन्दी-साहित्य पर इन परिस्थितियों का प्रभाव समय-समय पर प्रत्येक युग में पड़ा है। इसीसे उसके विभिन्न रूप देखने को मिलते हैं। रीतिकाल में ब्रजभाषा-काव्य को प्रश्रय राजदरबारों में मिलने से वहाँ के विलासी वातावरण का प्रभाव उस पर पड़ना अनिवार्य था। यही कारण है कि राजाश्रित ब्रजभाषा के कवियों ने उन आश्रयदाता राजाओं की विलासी चेष्टाओं की परितृप्ति के लिए ऐहिक शृंगार की शत सहस्र उद्भावनाएं कीं।

राजनीतिक और सामाजिक स्थिति

शक्तिशाली गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद भारत अनेक छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था। देश में बलवान केन्द्रीय सत्ता के अभाव में इन राज्यों में सदैव

पारस्परिक कलह व युद्ध होते रहते थे। इससे चारो ओर देश में अराजकता और अशान्ति की स्थिति बनी रहती थी। १३वीं से १५वीं शताब्दियों में अफगान सुल्तानों के शासन काल में भी देश की लगभग यही दशा थी। अब तक कोई ऐसा पराक्रमी शासक न हुआ था जो इन छोटे-छोटे राजाओं और सामन्तों को अधीन कर देश में शान्ति और सुव्यवस्था स्थापित करने में समर्थ होता। अलाउद्दीन खिलजी ने देश के एक बहुत बड़े भूभाग पर विजय अवश्य प्राप्त कर ली थी, किन्तु वह एक सुदृढ़ साम्राज्य की स्थापना करने में पूर्णरूप से असफल रहा। यह श्रेय मुगल बादशाहों को ही प्राप्त है जिन्होंने दीर्घकाल के उपरान्त देश में (कम से कम उत्तर भारत में) एक ऐसे साम्राज्य की नींव दी जिसमें शान्ति और सुव्यवस्था कायम हुई। दूसरे मुगल बादशाह अफगान सुल्तानों के मुकाबले सुसंस्कृत और उदार थे। इससे इनके समय में साहित्य और कला की उन्नति हुई। मुगल-दरबार प्रत्येक प्रकार के वैभव के केन्द्र बन गए। ऐश्वर्य और वैभव की अतिशयता ने उनके जीवन को विलासी भी बनाया। औरंगजेब को छोड़कर सभी मुगल-शासक विलासप्रिय थे। उनके रंगमहल में हजारों की तादाद में नवयुवतियाँ होती थीं। अबुलफजल के कथन के अनुसार अकबर बादशाह के ही हरम में पाँच हजार स्त्रियाँ थीं। इन सुन्दरियों के साथ सुरा का भी उन्मुक्त व्यवहार होता था।

मुगलकाल में समाज सामन्तवादी आधार पर संगठित था। बादशाह के बाद उसके उन अमीर-उमराओं का स्थान होता था जो मनसबदार होते थे। ये अमीर-उमरा भी बड़े ऐश व आराम के साथ जीवन व्यतीत करते थे। भोग-विलास पर खर्च करने के लिये इनके पास पर्याप्त मात्रा में धन होता था। 'मोरलैण्ड' के अनुसार एक पाँच हजारी मनसबदार की मासिक आय अठारह हजार रुपये और एक हजारी की पाँच हजार रुपये होती थी। यह आय उनको उस खर्च के निकालने के बाद होती थी जो उन्हें सैन्य पर खर्च करना पड़ता था। उस समय चीजों की कीमत भी पर्याप्त कम थी। इस बड़ी भारी रकम को वे पानी की भाँति भोग-विलास पर बहाते थे। इनके भी अन्तःपुर में हजारों सुन्दरियाँ होती थीं। मद्यपान का दुर्व्यसन इस प्रकार बढ़ा हुआ था कि

विदेशों से उत्कृष्ट मदिरा मँगाकर उसका उपयोग किया जाता था। उनकी सुन्दर पोशाक, बहुमूल्य आभूषण, स्वादिष्ट भोजन तथा रहन-सहन में भी विलासिता की आभा झलकती थी। इस प्रकार के भोग-विलास से परिपूर्ण जीवन उनके सम्मान की रक्षा के लिए उस समय आवश्यक भी समझा जाता था।

मुगल-दरबार एवं उसके सामन्त और पदाधिकारी लोगों की शान-शौकत और विलासिता का अनुकरण तत्कालीन राजाओं और नवाबों ने भी किए। उनके भी महलों में शृंगारिकता के नग्ननृत्य होते थे। उनका भी आदर्श भोग-विलास से पूर्ण जीवन व्यतीत करना हो गया था। इन लोगों के अतिरिक्त एक वर्ग धनिकों का और था। इनके पास भी भोग-विलास के लिये धन की प्रचुरता होने से वे उसमें लिप्त थे। साधारण जनता की हालत इससे भिन्न थी। यह शोषित वर्ग था। इसीके शोषण से सामन्तों और धनिकों के विलासी और अकर्मण्य जीवन का पोषण हो रहा था। इनकी अवस्था दीन-दैन्य से पूर्ण थी। उस समय की ब्रजभाषा की कविता इनकी अवस्था का प्रतिनिधित्व नहीं करती। वह उस समय के केवल रईसों, राजाओं और सामन्तों के जीवन की ही सही झाँकी देती है। 'पद्माकर' के इस प्रसिद्ध पद में तत्कालीन रईसों के शिशिर काल में भोग-विलास की साज-सज्जा देखी जा सकती है—

'गुलगुली गिलमें गलीचा हैं गुनीजन हैं,
चाँदनी है चिक हैं चिरागन को माला हैं।
कहैं 'पद्माकर' त्यों गजक गिजा हैं,
सजी सेज हैं, सुराही हैं और प्याला हैं।
शिशिर के पाला को न व्यापत कसाला तिन्हैं,
जिनके अधीन एते उदित मसाला हैं।
तानतुक ताला हैं बिनोद के रसाला हैं,
सुबाला हैं, दुशाला हैं, विशाला चित्रशाला हैं॥'

'बिहारी' के इस दोहे से भी यही प्रकट होता है कि उस समय सांसारिक भोग एवं ऐश्वर्य को ही जीवन का परम लक्ष मान लिया गया था—

'तंत्री-नाद, कवित्त-रस, सरसराग, रतिरंग।
अनबूड़े बूड़े, तरे जे, बूड़े सब अंग॥'

रीतिकाल का प्रारम्भ उस समय से होता है जबकि विशाल मुगल-साम्राज्य पतनोन्मुख था। शाहजहाँ के समय से ही पतन के चिह्न दृष्टिगोचर हो चले थे। औरंगजेब का दृढ़ व्यक्तित्व उसको कुछ समय तक विघटित होने से बचाए रखा। उसकी मृत्यु के उपरान्त उसके निर्बल उत्तराधिकारी साम्राज्य को विशृंखल और खण्ड-खण्ड होने से न बचा सके। समस्त देश पुन: छोटे-छोटे अनेक महत्वहीन राज्यों में विभक्त हो गया। राजनीतिक सुरक्षा और शान्ति नष्ट हो गई। देश पुनः युद्धों और अराजकता से आक्रान्त हो उठा। इसीसे रीतिकाल, भारतीय राजनीति की दृष्टि से अव्यवस्था और अंधकार का युग माना जाता है। रीतिकालीन ब्रजभाषा की कविता का पालन-पोषण ऐसे समय में उन्हीं छोटे-छोटे राज-दरबारों में हुआ जहाँ अभी भोगवाद की चली आती हुई प्रवृत्ति शेष बनी हुई थी। इसीलिए इस युग में इन विलास-प्रिय राजाओं के मन बहलाव के लिए लिखी गई ब्रजभाषा की कविता का शृंगार प्रधान होना असम्भावित न था।

सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि

भक्तिकाल की शृंगार-परक रचनाएं रीतिकालीन ब्रज-कविता की पूर्व-पीठिका प्रस्तुत करती हैं। भक्तिकाल में ही कृपाराम कृत 'हिततरंगिणी', केशवदास कृत 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया', रहीम कृत 'बरवैनायिकाभेद', सूर कृत 'साहित्य लहरी', नन्ददास कृत 'रसमंजरी' आदि रचनाओं में रीति-परम्परा की उद्भावना हो चुकी थी। भेद केवल इतना है कि कुछ कवियों, जैसे केशवदास; कृपाराम आदि की रचनाओं को छोड़कर भक्तिकाल की शेष

शृंगारिक रचनाएँ प्रधानतः उन्मुक्त वातावरण में हुईं। उनके रचयिता सन्त-महात्मा थे जो संसार की माया-ममता से दूर थे। उन लोगों ने स्वान्तः सुखाय अपनी अन्तः प्रेरणाओं को ही वाणीबद्ध किया और उसका आदर्श 'प्राकृत जन गुन गान' कभी नहीं होने दिया था। अकबर सदृश बादशाह के निमंत्रण को अस्वीकार कर अपनी निर्भीकता और महानता का परिचय दिया था। इसीसे उनकी वाणी में काम-वासना की गंध नहीं मिलती। उसमें हमें कल्याण और शान्ति का सन्देश ही अधिक मिलता है। उन लोगों ने अपने पांडित्य प्रदर्शन के लिए भी कुछ नहीं लिखा। 'जायसी' ने तो अपने को पंडितों का 'पछिलगा' बताया। तुलसीदास ने लिखा कि 'कवित विवेक एक नहिं मोरे'। इन सबके विपरीति रीतिकालीन कवियों ने राजाश्रित होने के कारण 'प्राकृतजन गुन गान' के अतिरिक्त और कुछ किया ही नहीं। उनकी रचनाएँ उन राजाओं के मन-बहलाव के लिए हुईं जहाँ विलासिता के उपकरण सुरा, सुराही और सुन्दरी के व्यवहार का अतिचार हो रहा था। दूसरे इस काल के कवि केवल कवि ही न थे। वे काव्य-कला मर्मज्ञ भी थे। उन्होंने काव्य को कला से युक्त करने में अपनी प्रतिभा और पांडित्य का पूर्ण प्रदर्शन भी किया। इस प्रकार इस काल के कवियों की रचनाएँ प्रधानतः दो उद्देश्यों को लेकर लिखी गईं दिखलाई देती हैं। प्रथम है, कलुषित प्रेम की उद्‌भावना द्वारा तत्कालीन राजाओं की विलासी मनोवृत्ति की परितृप्ति करना; और दूसरा है काव्य को रस, अलंकारादि से युक्त कर अपने को आचार्यत्व की पदवी से विभूषित करना। इसीसे रीतिकाल की कविता जहाँ एक ओर शृंगार-रसमयी है वहाँ दूसरी ओर वह काव्य-कला से पूर्ण है। रीतिग्रन्थ लिखे बिना तो किसी कवि का कवि-कर्म ही न पूरा समझा जाता था। परिणाम स्वरूप रीतिग्रन्थों की इतनी रचना हुई कि इस युग को ही रीतिकाल कहना पड़ा।

इस काल का साहित्य सबसे अधिक प्रभावित संस्कृत-साहित्य से है। संस्कृत-साहित्य में काव्य-तत्वों को लेकर सैद्धान्तिक विवेचन खूब हुआ है। उसके कवियों ने काव्य के प्रत्येक अंग पर विशद और व्यापक रचनाएँ की हैं। उसमें रस, रीति, अलंकार आदि पर प्रचुर साहित्य विद्यमान है। ब्रजभाषा के

कवियों ने ब्रजभाषा-काव्य को कला से युक्त करने, तथा संस्कृत-साहित्य में निहित काव्य-तत्वों को सबके लिए सुलभ बनाने के हेतु उन्हें अपनी रचनाओं में अपनाया है।

रीतिकाल की कविता की पृष्ठभूमि में भक्तिकालीन वह साहित्य भी आता है जिसमें सन्त-महात्मा कवियों ने नारी को आध्यात्मिक साधन का बाधक बतलाया है और उसका तिरस्कार किया है। यह देखा जाता है, और इतिहास इस बात का साक्षी भी है कि एक युग कभी-कभी अपने पूर्ववर्ती युग के प्रतिक्रिया स्वरूप उपस्थित होता है। भक्तिकाल में नारी समाज से उपेक्षित रही। यदि इसकी प्रतिक्रिया में रीतिकाल की कविता नारी को केन्द्र-बिन्दु बनाकर हुई तो आश्चर्य नहीं होता।

मुसलमानों के देश में आने के समय से फारसी का खूब प्रचार हो रहा था। फारसी में श्रृंगार का विशाल साहित्य होने से उसके प्रभाव से तत्कालीन ब्रजभाषा का साहित्य अछूता न रह सका। उर्दू की गजलों ने जो फारसी-साहित्य के अनुकरण पर आशिक-माशूक, सुरा, सुन्दरी, साकी आदि उपकरणों की सहायता से लिखी जा रही थीं, श्रृङ्गार-भावना को ब्रजभाषा में प्रोत्साहन दिया।

उस समय राज-दरबारों में संगीत को खूब प्रश्रय मिला था। ये संगीत ब्रजभाषा के माध्यम से ही अधिकतर प्रस्तुत किए जा रहे थे। संगीत और श्रृंगार का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण ब्रजभाषा में श्रृंगार की वृद्धि हुई।

इसी सांस्कृतिक एवं साहित्यिक पृष्ठभूमि पर इस काल का सम्पूर्ण ब्रजभाषा-काव्य खड़ा है।

ब्रजभाषा-काव्य का वर्ण्य विषय

इस काल के कवियों ने वाणी का सार 'श्रृङ्गार' और श्रृङ्गार का सार 'किसोर-किसोरी' बताया है—

'वानी को सार बखान्यों सिंगार,
सिंगार को सार किसोर-किसोरी। —देव

'किसोर-किसोरी' के 'सुमिरन का बहाना' तो इन कवियों की आत्म-प्रवंचना थी। उनकी आड़ में इन लोगों ने लौकिक नायक-नायिका का ही चित्रण किया है। देखा जाता है कि परोक्ष और अपरोक्ष दोनों रीतियों से इन कवियों ने शृंगार रस का ही प्रतिपादन किया, और उसको अपनी कविता का प्रधान वर्ण्य विषय बनाया है।

शृङ्गार-रस का स्थायी भाव 'रति' है। 'रति' शब्द लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार के भाव को व्यक्त करता है। एक ओर जहाँ उसका अर्थ भक्ति, प्रेम, अनुरागादि से जुड़ा हुआ है, वहाँ दूसरी ओर स्त्री-पुरुष की पारस्परिक कामवासना से। इसीसे भक्तिकाल की ब्रजभाषा-काव्य की प्रेम लक्षणा भक्ति में शृङ्गार जहाँ अपने अलौकिक भाव की ओर झुका दिखलाई देता है, वहाँ रीतिकाल में लौकिक भाव की ओर। जीवन के लौकिक और पारलौकिक दोनों अंगों से सम्बन्धित होने के कारण आचार्यों ने इसे रसराज कहा है—

'भूलि कहत नव रस सुकवि सकल मूल सिंगार'
—देव

'नव रस में सिंगार रस सिरे कहत सब कोय'
—पद्माकर

इस रस की विशिष्टता के सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र के आचार्य महामुनि भरत ने लिखा है—यत्किञ्चिल्लोके शुचिमेध्यमुज्वलं दर्शनीयं वा तच्छृँगारेणोपमीयते' सृष्टि में जो कुछ पवित्र, उत्तम, उज्ज्वल एवं दर्शनीय है, शृङ्गार है। शाब्दिक अर्थों में इस रस की उक्त विशिष्दता प्रमाणित है, क्योंकि किसी वस्तु की जो

उत्तमता, सुन्दरता एवं दर्शनीयता है वही तो उस वस्तु का सौंदर्य अथवा शृङ्गार है। तथ्य रूप में भी जीवन के लौकिक और पारलौकिक दोनों क्षेत्रों में शृंगार रस की यही विशिष्टता सिद्ध होती है। प्रेमलक्षणा भक्ति में इष्ट की रूपोपासना के भीतर, जिसमें उसकी वेष-भूषा, आकृति, चेष्टा, हाव-भाव, मुद्रा, अंग-प्रत्यंग तथा नखशिख का वर्णन होता है, भक्त को जो सौंदर्यानुभूति होती है अन्ततोगत्वा उसका परिवर्द्धन पावन प्रेम में होता है। इसी प्रकार सांसारिक जीवन में स्त्री-पुरुष के पवित्र, मधुर एवं सुख-सौंदर्यपूर्ण दाम्पत्य जीवन की उद्भावना भी शृंगार रस के भीतर ही सम्भव है। इसीसे हिन्दी क्या संसार के प्रत्येक साहित्य में विद्वानों ने बड़े मनोयोग से इस रस को पाला-पोसा है। ब्रजभाषा तो इस रस का मानों पार्थिव शरीर बनी हुई है। यह दूसरी बात है कि रीतिकाल के शृंगारी कवियों की दृष्टि में इस रस की सुन्दर और पवित्र भावना का न तो एक व्यापक संसार ही समा सका और न गार्हस्थ्य जीवन के भीतर सौंदर्य-प्रेम की अभिव्यक्ति ही उतनी उत्कृष्ट हो पाई जितनी कि अपेक्षित थी। ऐसा न होने का एकमात्र कारण तत्कालीन सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति थी जो 'सरस राग रतिरंग' के मोहक आदर्श का अनुगमन कर रही थी।

इस काल के अधिकांश कवियों ने संस्कृत के काव्यांग-विवेचन की परम्परा —अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और रस को तो अपनी काव्य-रचना में अपनाया, पर उनकी अभिरुचि सांसारिक जीवन से अनुराग रखने वाले राजाओं और रईसों को रिझाने की ओर लगी रहने से उन सिद्धान्तों के उतने ही अंश को उन्होंने ग्रहण किया जितना कि उनको अपनी रसिकता के पोषण के लिए आवश्यक दिखलाई दिया। आचार्यत्व के लोभ से कुछ कवि काव्यत्व के सर्वांग निरूपण की ओर अग्रसर अवश्य हुए, पर वे भी संस्कृत में किए गए सांगोपांग एवं सूक्ष्म विवेचन के समान उनपर विस्तृत रचना न कर पाए। क्या अलंकार, क्या रस किसी भी काव्य-सिद्धान्त पर विचार करते हुए उनकी दृष्टि सदा शृंगार-परक लक्षण-ग्रंथों की रचना की ओर ही विशेष रूप से लगी रही। इन दो सौ वर्षों के रीतिकाल के लम्बे जीवन में सम्पूर्ण काव्यांगों पर प्रकाश डालने वाले ग्रंथों की संख्या बहुत न्यून है। कुछ प्रमुख ग्रंथों के नाम हैं—सेनापति कृत

'काव्य-कल्पद्रुम', चिंतामणिकृत 'कविकुल-कल्पतरु' और 'काव्य-विवेक', कुलपतिमिश्रकृत 'रस-रहस्य', देवकृत 'काव्य-रसायन', सूरतिमिश्रकृत 'काव्यसिद्धांत' भिखारीदासकृत 'काव्य-निर्णय' आदि। इनका प्रणयन अधिकतर मम्मट के 'काव्य प्रकाश', विश्वनाथ के 'साहित्य-दर्पण' और जयदेव के चन्द्रालोक के आधार पर हुआ है। संस्कृत-साहित्य में जहाँ अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि और रस सभी सिद्धान्तों पर पृथक्-पृथक् उच्चकोटि के विश्लेषणात्मक ग्रन्थ लिखे गए, वहाँ हिन्दी के रीति-साहित्य में प्रमुखता केवल अलंकार, रस और ध्वनि को ही मिली। 'रीति' और 'वक्रोक्ति' को जो संस्कृत-साहित्य शास्त्र में लोकप्रिय न हो सके थे, इन रीतिकालीन आचार्यों ने भी कोई महत्व प्रदान न किया। दूसरे, मूलत: 'रीति' रससिद्ध का साधन, और 'वक्रोक्ति' अलंकार की एक शाखा होने के कारण भी हिन्दी में उनका स्वतंत्र विकास न हो पाया। जयदेव के 'चन्द्रालोक' और 'अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' के अनुकरण पर अलंकार के अन्तर्गत करनेस का 'कर्णाभरण' और 'श्रुतिभूषण', जसवन्तसिंह का 'भाषाभूषण', सूरतिमिश्र का 'अलंकारमाला', भूपति का 'कंठाभूषण', शम्भुनाथ मिश्र का 'अलंकार दीपक', मतिराम का 'ललित ललाम'; पद्माकर का 'पद्माभरण' आदि उल्लेखनीय रचनाएँ हैं। रस और ध्वनि पर विवेचन करने वाले मुख्य काव्य-ग्रंथ हैं—केशव की 'रसिक-प्रिया', चिन्तामणि की 'शृङ्गार-मंजरी', तोष की 'सुधा-निधि', कुलपति मिश्र का 'रसरहस्य', मतिराम का 'रसराज' सुखदेव मिश्र का 'रसार्णव', देव का 'भावविलास', 'रस-विलास', 'भवानी-विलास', 'सुजान-विनोद', 'सुख सागर तरंग' और 'जाति विलास', भिखारीदास का 'शृंगार-निर्णय', बेनी प्रवीन का 'नवरस तरंग', पद्माकर का 'जगद्विनोद' आदि। इन रस ग्रन्थों की रचना संस्कृत-साहित्य में रुद्रभट्ट के 'शृङ्गार तिलक' और भानुदत्त की 'रसतरंगिणी' और 'रसमंजरी' के अनुकरण पर हुई है। रीतिकाल के कवियों ने इन रस-निरूपण करने वाले काव्य-ग्रंथों में अपनी शृंगार-प्रिय प्रवृत्ति का ही विशेष परिचय दिया है। शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों की चर्चा इन ग्रन्थों में कम हुई है। कुछ आचार्यों ने शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों की चर्चा केवल प्रथा पालन के लिए ही अपनाया है। मतिराम ने तो 'रसराज' में एकमात्र शृंगार-रस का ही वर्णन किया है।

ऊपर वर्णित भिन्न-भिन्न काव्य-सिद्धान्तों पर की हुईं इनकी सम्पूर्ण रचनाओं को विद्वानों ने 'रीति' के अन्तर्गत माना है। 'रीति' से इन विद्वानों का तात्पर्य इस काल की अलंकारिक एवं शृंगारिक रचनाओं से रहा है। हिन्दी की यह 'रीति' वामनाचार्य की 'रीति-पद्धति' से भिन्न है। दण्डी, रुद्रट आदि आचार्यों के अलंकार-सम्प्रदाय के उपरान्त संस्कृत में 'रीति' की एक नवीन समीक्षा-पद्धति स्थापित हुई थी। इसके प्रतिष्ठापक आचार्य वामन ने 'विशिष्ट-पद-रचना' को 'रीति' बतलाया। 'बिशिष्ट' से उनका तात्पर्य शब्द और अर्थ-गत गुण से है। 'रीति' को उन्होंने काव्य की आत्मा कहा। हिन्दी के रीति-काल के कवियों ने 'रीति' को न काव्य की आत्मा ही माना है और न उसके भेदों-उपभेदों पर विशद विवेचना ही प्रस्तुत की है। इतना अवश्य है कि काव्य में सौंदर्य लाने के लिए शब्द और अर्थ-गत गुण की उपेक्षा ये नहीं कर सके हैं।

रीतिकाल में 'रीति' पर रचना करने वाले कवियों ने अपनी रचनाएँ दो पद्धतियों पर की हैं। एक है लक्षण-उदाहरण वाली प्रणाली। इसमें लक्षण ग्रन्थ लिखे जाते थे। किसी काव्य-तत्त्व के भेद-उपभेद के लक्षण देकर उन लक्षणों पर उदाहरण की रचना करते थे। दूसरी प्रणाली में लक्षण ग्रंथ नहीं बनते थे। वरन् लक्षणों को दृष्टि में रखकर उनके उदाहरणस्वरूप स्फुट रचनाएँ की जाती थीं। बिहारी की सतसई इसी प्रकार की रचना है। रीतिकाल में अधिक संख्या इन्हीं दोनों प्रणालियों के अन्तर्गत रचना करने वालों की है। इस रीति-परम्परा से हटकर कुछ रीतिमुक्त शृंगार सम्बन्धी रचनाएँ भी इस काल में हुई हैं जो उन कवियों के स्वच्छन्द प्रेमोद्गार हैं। ऐसे कवियों में घनानन्द, बेनी, आलम, ठाकुर, द्विजदेव के नाम प्रमुख हैं। इन लोगों की अधिकांश रचनाएँ रीति की पद्धति पर न होते हुए भी उस काल की रीति सापेक्ष ब्रज-भाषा की रचनाओं से किसी प्रकार हेठ नहीं हैं। 'द्विजदेव' का यह पद कितना अनूठा है—

'न भयो कछु रोग को योग दिखात,
न भूत लगो न बलाय लगी।

न कहूँ कोऊ टोनो डिठौनो कियौ,
नहिं काहू की कीनी उपाय लगी।
'द्विजदेव' जू नाहक ही सबके,
हिये औषधि मूल की चाय लगी।
सखि बीस बीसे निसि याही कहूँ,
बन बौरे बसन्त की बाय लगी।।'

इस काल में श्रृंगारी रचनाओं के अतिरिक्त वीर रस सम्बन्धी, नीति सम्बन्धी और भक्ति सम्बन्धी रचनाएँ और मिलती हैं। जो लोग यह कहकर कि रीतिकाल की ब्रजभाषा की कविता में तो केवल 'पनघट पर झाँकने वालों के उद्गार हैं' सस्ती सी ब्रजभाषा काव्य की आलोचना कर देते हैं, उसके साथ न्याय नहीं करते। अन्य रसों की रचनाएँ भी उसमें हुईं हैं। वीर-रस सम्बन्धी रचनाओं में कुलपति मिश्र का 'द्रोणपर्व', रघुनाथ बन्दीजन का 'महाभारत', लालकवि का 'छत्रप्रकाश', चन्द्रशेखर वाजपेयी का 'हम्मीर हठ', सूदन का 'सुजस-चरित्र', जोधराज का 'हम्मीर रासो', भूषण का 'शिवराज भूषण', 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दसक' तथा पद्माकर की 'हिम्मत बहादुर विरुदावली आदि आती हैं। इसमें सन्देह नहीं कि इनमें से अधिकांश रचनाएँ ओज और उत्साह से भरी हुई होने पर भी अतिशयोक्तिपूर्ण हैं। क्योंकि वे अपने आश्रयदाताओं और कृपालुओं को प्रसन्न करने के लिए लिखी गई हैं। नीति सम्बन्धी रचनाओं में 'वृन्द की सतसई', गिरधर की 'कुण्डलियाँ', बैताल की नीति विषयक कविताएँ तथा दीनदयालगिरि और घाघ की अन्योक्तियाँ आती हैं। भक्ति सम्बन्धी स्फुट रचनाएँ भी इस काल में हुईं हैं। विशुद्ध श्रृंगारी काव्य लिखने वाले देव, बिहारी, पद्माकर आदि ने भक्ति सम्बन्धी पद लिखे हैं। इन श्रृंगारी कवियों की भक्ति-भावना की सच्चाई पर कुछ विद्वानों को सन्देह है, पर उनके पदों में कहीं-कहीं उनकी भक्ति-भावना की गहराई का प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है। मतिराम और बिहारी के ये पद अवलोकनीय हैं—

'राधा मोहनलाल कों जाहि न भावत नेह।
परियौ मुठी हजार दस ताकी आँखियन खेह ॥'

—मतिराम

'कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार।
मो सम्पति जदुपति सदा बिपति-बिदारनहार ॥'

—बिहारी

मधुसूदन का 'रामाश्वमेध यज्ञ' एक सुन्दर प्रबन्ध काव्य है। शृंगार-परक भक्ति रचना करने वालों में नागरीदास और चरनदास मुख्य हैं। निर्गुणोपासक कवि जगजीवन, यारी, दरिया, पलटू आदि ने भक्ति सम्बन्धी रचनाएं की हैं। एक बात अवश्य है कि शृंगार सम्बन्धी रचनाएं इस काल में इतनी अधिक हुई हैं कि अन्य विषयों पर लिखी गई रचनाएं उसमें डूब-सी गई हैं।

ब्रजभाषा और नायिका भेद :—

ब्रजभाषा-काव्य शृंगार रस प्रधान है। शृंगाररस को लेकर कवियों ने जितना ऊहापोह किया तथा नायिका-भेद पर जितनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म दृष्टि से विचार इस युग में किया उतना अन्यत्र देखने को नहीं मिलता। इसके कई मुख्य कारण हैं। एक तो इस विषय पर संस्कृत-साहित्य की परम्परा इन कवियों के सामने वर्तमान थी जिसके अनुकरण पर उन्होंने रचनाएँ कीं। दूसरे, सामयिक स्थिति जिसका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है इन कवियों को शृंगारिक रचना करने के लिए प्रोत्साहन दे रही थी। तीसरे, शृंगार रस के दो रूपों—अलौकिक और लौकिक—में अलौकिक को लेकर भक्तिकाल में रचनाएं हो चुकी थीं। इस काल के कवियों ने उसके लौकिक रूप पर रचना कर उस कमी को पूरा करने का प्रयत्न किया। चौथे, चूंकि ब्रजभाषा स्वभाव से ललित, मधुर और लावण्यमयी है, इसलिए उसकी कोमलकान्त पदावली शृंगार रस की कोमल

और सुकुमार भावनाओं के अधिक अनुकूल सिद्ध हुई। शृंगार-रस की रसीली और रंगीली रचनाओं के लिए उस जैसी भाषा कवियों को अन्यत्र न दिखाई दी। इसीसे उसकी स्निग्ध, सरस और सुमधुर शब्दावली में अन्य रस जैसे वीर, रौद्र आदि उतने खरे न उतर सके जितना कि शृंगार रस। पाँचवें, शृंगार रस को प्रश्रय ब्रजवासियों की माधुर्य उपासना के भीतर बहुत पहले से इस भाषा में मिल रहा था। छठें, इस काल के कवि रससिद्ध, भावुक और प्रतिभा सम्पन्न थे। उन लोगों ने इस एक रस पर ही इतना व्यापक विचार एवं स्वतन्त्र उद्भावनाएं कीं कि उस पर सरस रचनाओं का अम्बार लग गया। इसीसे शृंगार रस पर जैसा गम्भीर विवेचन हिन्दी-साहित्य में मिलता है वैसा किसी भी दूसरी वर्तमान भाषा के साहित्य में दिखाई नहीं देता। ब्रजभाषा साहित्य के लिए यह एक बड़े गौरव का विषय है कि उसमें दिव्य (अलौकिक) तथा लौकिक दोनों ही प्रकार का प्रचुर शृंगारी साहित्य है।

शृंगार रस के दो पक्ष हैं—(१) संयोग अथवा सम्भोग-शृंगार (२) वियोग अथवा विप्रलम्भ-शृंगार। दोनों पक्षों को लेकर इस काल में कवियों ने अद्भुत कौशलपूर्ण ढंग से रचनाएँ की हैं। शृंगार रस के आलम्बन, नायक-नायिका के भेदोपभेद, उनके हाव-भाव, नखशिख, मिलन-विरह की दशाओं का बड़ा ही मनोरम चित्रण हुआ है। शृंगार रस के उद्दीपन के लिए षड्ऋतु वर्णन की भी कवियों ने प्रथा चलाई। वियोग सम्बन्धी बारहमासे भी लिखे।

इस रस का सम्पूर्ण ऐश्वर्य कवियों ने नायिकाभेद के भीतर दिखलाया है। नायिका भेद की परम्परा बहुत प्राचीन प्रतीत होती है। अग्निपुराण में एक श्लोक आता है—

> 'स्वकीया परकीया च पुनर्भूरिति कौशिका।
> सामान्या न पुनर्भूरित्याद्या बहु भेदतः॥

नायिकाभेद पर यह प्रतिपादन सूक्ष्म होने पर भी महत्वपूर्ण है। इसके पश्चात् भरतकृत, 'नाट्यशास्त्र', धनंजय कृत 'दश रूपक' और वात्स्यायन कृत 'कामसूत्र' नायिकाभेद पर एक प्रौढ़ एवं विकसित परम्परा संस्कृत-साहित्य में प्रस्तुत करते हैं। इस विकास की चरम सीमा संस्कृत में भानुदत्त की 'रसमंजरी' और विश्वनाथ के 'साहित्य दर्पण' में प्रकट होती है। हिन्दी के कवियों को नायक-नायिका भेद निरूपण की परम्परा इन्हीं दोनों ग्रंथों से प्राप्त हुई। इनमें भी भानुदत्त की 'रसमंजरी' उनका विशेष आदर्श रही। रीतिकाल के पूर्व भक्तिकाल में चैतन्य महाप्रभु के प्रधान शिष्य रूपगोस्वामी कृत 'उज्ज्वलनीलमणि' में कृष्णभक्ति के विवेचन में नायिका भेद मिलता है। किन्तु इस ग्रंथ का सीधा प्रभाव रीतिकाल पर प्रतीत नहीं होता। भक्तिकाल में कृपाराम की 'हित-तरंगिणी', सूर की 'साहित्यलहरी', नन्ददास की 'रसमंजरी', रहीम की 'बरवै नायिकाभेद' आदि में इस परम्परा का प्रारम्भिक रूप देखने को मिलता है। सूरादि के नायिकाभेद पर जयदेव और विद्यापति की शृंगारी रचनाओं का प्रभाव है। यद्यपि जयदेव और विद्यापति की रचनाओं में स्पष्ट नायिकाभेद नहीं है, पर खण्डितादि के रूप उसमें अवश्य मिलते हैं। भक्तिकाल में श्रीराधा-कृष्ण की केलि-कथाओं का स्मरण करना कृष्णभक्ति का एक अंग बन गया था। यद्यपि कृष्णभक्ति के आचार्यों ने कृष्ण के इस प्रेम को शुद्ध और पवित्र बतलाया और सफाई में अनेक बातें कहीं जिनमें यह भी कहा कि उस समय कृष्ण की किशोर अवस्था थी जिसमें शुद्ध प्रेम ही होता है, परन्तु राधा-कृष्ण की यह प्रेम भरी भक्ति रीतिकाल में जनता को भौतिक प्रेम की ओर ही अधिक ले गई। इसका परिणाम यह हुआ कि सम्पूर्ण रीति-कविता में कृष्ण को एक विदग्ध नायक से अधिक गौरव बहुत कम स्थलों पर मिल सका। तात्पर्य यह कि भक्तकवियों की कुछ रचनाओं में अप्रत्यक्ष रूप से नायिकाभेद मिलता है जिसका प्रभाव रीतिकाल की नायिकाभेद की रचना पर पड़ा है।

रीतिकाल के कवियों के सामने नायिकाभेद सम्बन्धी संस्कृत और भक्ति-काव्य की यही परम्परा वर्तमान थी जिसको उन्होंने अपनाया। नायक-नायिकाओं के विभिन्न भेदों और स्वभावों पर विस्तृत विवेचन करने वाले रस-शास्त्रों

का इन लोगों ने निर्माण किया। नायिका भेद की निश्चित परिपाटी मतिराम ने चलाई। उनका बनाया 'रसराज' इस विषय का सर्वमान्य ग्रन्थ है। केशव रीतिकाल के प्रथम आचार्य माने जाते हैं और उनकी बनाई 'रसिकप्रिया' मतिराम के 'रसराज' से पहले की रचना है। 'रसिकप्रिया' में नायिकाभेद के अतिरिक्त साहित्यशास्त्र के अन्य सभी अंगों का सम्यक विवेचन है। देव नायिकाभेद के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं। इन्होंने नायिकाभेद वर्णन में अधिक रुचि दिखलाई है। नायिकाभेद पर 'भावविलास', 'रसविलास' आदि उनकी मुख्य ब्रजभाषा की रचनाएँ हैं। इनके अतिरिक्त चिन्तामणि की 'शृंगार मंजरी' भिखारीदास का 'शृंगार निर्णय', रसलीन का 'रसप्रबोध', बेनी प्रवीन का 'नवरस तरंग', पद्माकर का 'जगद्विनोद' आदि इस विषय की ऊंची रचनाएँ हैं। इन्हीं सब ग्रन्थों में ब्रजवाणी अलंकार-युक्त हुई है।

रीतिकालीन कवियों ने नायिकाओं के अनेक भेद-उपभेद अनेक प्रकार से किए हैं—

१—जात्यनुसार=पद्मिनी, चित्रिणी, शंखिनी, हस्तिनी।

२—धर्मानुसार=स्वकीया, परकीया, सामान्या (गणिका)

३—अवस्थानुसार=प्रोषितपतिका, खण्डिता, कलहांतरिता, विप्रलब्धा, उत्कंठिता, बासकसज्जा, स्वाधीनपतिका, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्पतिका, अगत्पतिका।

४—प्रकृत्यनुसार=उत्तमा, मध्यमा, अधमा।

५—वयानुसार=मुग्धा, मध्या, प्रौढ़ा।

इनके अतिरिक्त नायिकाओं के भेद के और भी अनेक आधार हैं। कवियों ने इनके भेद-उपभेद करते हुए उनको वर्णनातीत बना दिया है। इसी प्रकार शृंगाररस के उद्दीपन विभाव—सखा, सखी, दूती आदि के भी वर्गीकरण किए

गए हैं। इस रस के परिपाक में शृंगार के अन्य उद्दीपन विभाव—पवन, वन, उपवन, पुष्प, चन्द्र, चाँदनी, भ्रमर, कोकिल, ऋतुएँ आदि की अवस्थाओं के नायिकाओं के साहचर्य में वर्णन भी सहायक हुआ है। इनके रचयिता बड़े भावुक और कुशल कलाकार थे। उन्होंने नायिकाओं के वर्णन में अपनी पूरी शक्ति और प्रतिभा लगादी है। नायिकाओं की विभिन्न अवस्थाओं, हावभाव, मिलन-विछोह; तथा मानसिक भावों पर इनकी रचनाएं बड़ी मार्मिक एवं मनोवैज्ञानिक हुई हैं। इसीसे ब्रजभाषा का नायिकावर्णन अत्यन्त सौन्दर्यपूर्ण है। इन कवियों ने यह लिखकर कि 'माया देवी नायिका, नायक पुरुष आप' तथा 'जगनायक की नायिका बरनों केशवदास' अपने इस नायिका वर्णन को आध्यात्मिक पृष्ठभूमि भी प्रदान करने की चेष्टा की है; किन्तु यह केवल औपचारिक था। वे भक्त नहीं थे। अपनी रचनाएँ कृष्ण-राधा की भक्ति के भीतर उन्होंने इसलिए दिखलाने का प्रयत्न किया है कि कहीं समाज उनकी रचनाओं और उनको वासना का प्रचारक न मान ले।

नायक के भेद-उपभेद नायिकाओं के समान विस्तृत नहीं हैं। नायक धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त दिखलाए गए हैं। सबसे विशेष बात यह है कि इन कवियों के नायिका-वर्णन की प्रधानता में पुरुष-नायक खो-सा गया है।

रीतिकाल के परवर्ती कालों में विशेषकर द्विवेदी और छायावादी युगों में ब्रजभाषा-काव्य के इस नायिका वर्णन पर काफी उँगली उठाई गई है। उसके कवियों और आचार्यों पर जो गुरुतर अभियोग लगाए गए उनमें से संक्षेप में कुछ इस प्रकार हैं—

१. श्री राधा-कृष्ण को साधारण नायिका और नायक के रूप में चित्रित किया गया है। उनके वर्णन में कहीं-कहीं घोर अश्लीलता है।

२. स्वकीया-पारकीया के वर्णनों में समाज के स्वाभाविक मर्यादा का सम्पूर्ण बाँध तोड़ डाला गया है।

३. नायिका वर्णन की मुक्तक रचनाओं ने कवियों को प्रबन्ध काव्य लिखने का अवसर ही न दिया।

४. प्रकृति का वर्णन कवियों ने केवल श्रृंगार के उद्दीपन के लिए ही किया है।

ब्रजभाषा की रीतिकालीन कविता पर लगाए गए ये आरोप विचारणीय हैं। चूंकि हिन्दू जाति के मानस में श्रीराधा-कृष्ण, ईश्वर और उनकी आल्हादिनी शक्ति के रूप में गृहीत हैं, इसलिए साधारण नायक-नायिका के स्तर पर ले जाकर विषयी स्त्री-पुरुष के समान उनके चरित्रों का वर्णन करना उस जाति और देश के लिए गौरव की वस्तु नहीं हो सकती। जिन कवियों ने ऐसा किया है वे अवश्य उपालम्भ के पात्र हैं, और उनकी कविता अवश्य निन्दनीय है। यदि देखा जाय तो इन्हीं कवियों के हाथों ब्रजभाषा का अहित भी हुआ है। इस प्रकार के कवियों ने बार-बार कृष्ण और राधा के नाम तो लिए हैं पर उनके वर्णनों में हृदय की वह तन्मयता, भावनाओं की वह गहराई नहीं लक्षित होती जो भक्तिकाव्य का प्राण है। इसमें सन्देह नहीं कि भक्तिकाल के राधा-कृष्ण सम्बन्धी लीलागान के कुछ पद अवश्य अश्लील और अमर्यादित हैं। विद्यापति, सूर, तुलसी, नन्ददास आदि उच्चकोटि के भक्तों की रचनाओं में भी ऐसे अनेक स्थल हैं जिनको दिव्य श्रृंगार की श्रेणी में रखते संकोच होता है। सूर का यह पद—'नीबी ललित गही हरि राई' तथा मर्यादा के उपासक तुलसी का यह पद—'स्यामल सलोने गात, आलस बस जंभात प्रिया प्रेम रस पागे' आदि इस बात के प्रबल प्रमाण हो सकते हैं। इसको केवल यह कहकर टाला नहीं जा सकता कि उन्होंने भगवान की लीला माधुरी का आस्वादन करने कराने के लिए ऐसा किया है। फिर भी इन भक्त कवियों ने कृष्ण-राधा का चित्रण श्रृंगार-प्रिय नायक-नायिका के रूप में नहीं किया है। उनके पदों में जो उनका रूप चित्रित हुआ है उसमें ब्रह्मत्व की गरिमा ही अधिक है।

दूसरे आरोप के भीतर यह कहा जाता है कि 'जोग हू ते कठिन संयोग पर-नारी को' लिखकर इन कवियों ने अपनी विलासप्रिय और संकीर्ण मनोवृत्ति का

परिचय दिया है। भारतीय नारी का सतीत्व और आत्म-सम्मान उसकी सबसे बड़ी सम्पत्ति रही है। इसकी रक्षा उसने सदैव अपने प्राण पर खेल कर की है। ब्रजभाषा के रीतिकालीन कवियों ने इधर ध्यान नहीं दिया है। यह सही है कि परकीया और गणिका समाज की तथ्य हैं। ये नायिकाएँ कवि-कल्पना नहीं हैं। इसलिए इनका वर्णन बुरा नहीं हो सकता। हाँ, जहाँ उनके वर्णन में परस्त्री-रति की असंयत चर्चा है वह काव्य अवश्य निन्दनीय और वे कवि अवश्य कुत्सा के पात्र हैं। रीतिकाल के कवियों ने इस प्रकार के असंयत वर्णन किए हैं, किन्तु सिद्धान्त रूप में उन लोगों ने परकीया और गणिका प्रेम को सदैव निरुत्साहित किया है, और स्वकीया प्रेम के ही महत्व को उच्च माना है—'पात्र मुख्य सिंगार को सुद्ध स्वकीया नारि'—देव। नायिका-वर्णन का सर्वांश में दुरुपयोग ही कवियों द्वारा नहीं हुआ है। स्वकीया और परकीया की मानसिक अवस्थाओं और भावों का जो निरीक्षण इन कवियों ने किया है वे बड़े सजीव, स्वाभाविक और महत्व के हैं। इनके नायिका वर्णन में ही स्वकीय का अपने पति के लिए उत्सर्गीकृत जीवन और परकीया का अपने प्रेमी के लिये प्रेमोन्माद, मर्मस्पर्शी शब्दों में दिखाई देते हैं। इनकी रचनाओं में उत्कंठिता के क्रन्दन, विप्रलब्धा की घोर निराशा, मुग्धा के कौतूहल, प्रगल्भा के विलास-प्रेम आदि से कौन-सा सहृदय रसिक प्रभावित नहीं होता। संयोग की मादकता और वियोग की मर्मभेदी पीड़ा के भाव इन्हीं की लेखनी से प्रसूत हुए हैं जिनपर काव्य-रसिक लट्टू हैं। अतः नायिका वर्णन का सिद्धान्त उपेक्षणीय और गलत नहीं है, गलत है किसी कवि का स्खलन जो उसे साधारण वासना-तृप्ति की वस्तु बनाता है।

तीसरा आरोप है कि इस काल के कवियों ने केवल मुक्तक काव्य को प्रश्रय दिया है। बन्ध की दृष्टि से पद्य के दो भेद किए गए हैं—(१) प्रबन्ध, और (२) मुक्तक। प्रबन्ध में छन्द एक दूसरे से कथानक की श्रृङ्खला में बँधे रहते हैं; शास्त्रीय दृष्टि से प्रबन्ध काव्य बाबू गुलाबराय के शब्दों में 'विषय प्रधान काव्य है जिसमें अपेक्षाकृत बड़े आकार में जाति में प्रतिष्ठित और लोकप्रिय नायक के उदात्त कार्यों द्वारा जातीय भावनाओं, आदर्शों और आकांक्षाओं का उद्घाटन

किया जाता है ।" मुक्तक छन्द पारस्परिक बन्धन से मुक्त होते हैं । इसमें एक-एक छन्द की अलग-अलग साज और सम्हाल की जाती है । प्रबन्ध काव्य जहाँ काव्य के भाव पक्ष के उत्कर्ष के लिए सहायक होता और जीवन की बहुमुखी समस्याओं का वर्णन करता है, वहाँ मुक्तक काव्य कला पक्ष के उत्कर्ष के लिए सहायक होता और किसी एक रमणीक खण्ड दृश्य को इस प्रकार सहसा सामने ला देता है कि पाठक श्रोता कुछ क्षणों के लिए आनन्द विभोर वा मंत्रमुग्ध हो जाते हैं । इसके लिये कवि को मनोरम वस्तुओं और व्यापारों की एक छोटी-सी वृत्ति कल्पित करके उन्हें आलंकारिक एवं उक्ति-वैचित्र्यपूर्ण सशक्त भाषा में प्रदर्शित करना पड़ता है । इसके लिये कवि में अद्‌भुत रचना-कौशल की आवश्यकता पड़ती है । यह क्षमता बिहारी में थी जो दोहे ऐसे छोटे गागर में सागर भर सके हैं । रीतिकाल के कवि मुक्तक काव्य की ओर क्यों झुके इसके स्पष्ट कारण हैं । एक तो राजनीतिक दृष्टि से यह रीतिकाल अंधकार-युग माना जाता है । उस समय ऐसा कोई व्यक्ति न था जो प्रबन्ध काव्य का नायक बन सकता । शिवाजी में यह क्षमता अवश्य थी, पर भूषण भी समय के प्रवाह में ही बहे । दूसरे, इस काल की कविता को जिन राज-दरबारों में प्रश्रय मिल रहा था वहाँ कवियों की चमत्कारी रचनाओं को प्रोत्साहन मिला । तीसरे, इस काल के कवि भी दरबारों में सस्ती वाहवाही चाहते थे । चौथे, इस काल के कवियों की रुचि काव्य को अलंकृत करने की ओर थी । यह सब मुक्तक रचनाओं में ही सम्भव था । मुक्त रचनाएँ उन चुने हुये गुलदस्तों के समान हैं जो सभा और दरबारों के लिए अधिक उपयुक्त होते हैं ।

प्रकृति-वर्णन में इन कवियों की दृष्टि बहुत संकुचित रही । वह केवल शृंगार-रस के उद्दीपन के लिए ग्रहण की गई है । काव्य में प्रकृति-वर्णन दो रूपों में आया है—(१) आलम्बन और (२) उद्दीपन । आलम्बन में उसका वर्णन स्वतंत्र रूप से होता है । इसमें कवि प्रकृति का प्रत्यक्षदर्शी होता है और उससे वह स्वतः सम्बन्ध स्थापित करता है । इसमें वह प्रकृति के सुन्दर, सौम्य, विराट, भयंकर आदि सभी रूपों को दिखाता है । यहाँ उसका वर्णन बड़ा स्वाभाविक और मनोरम होता है । पाठक जब इस प्रकार का वर्णन पढ़ता है तो

उसको प्रत्यक्ष दर्शन का-सा आनन्द मिलता है। उद्दीपन रूप में प्रकृति मानव-भावनाओं की सहायिका होती है। इस रूप को शृंगारिक काव्य के दोनों पक्षों—संयोग और वियोग में ग्रहण किया गया है। 'संयोग' में श्रावण मास की काली-काली घटाएं जहाँ नायक-नायिका के मन को उल्लसित करतीं और रति-भावना को जाग्रत करती हैं, वहाँ 'वियोग' में उनके दुख और भय का कारण होती हैं। तात्पर्य यह कि मनुष्य अपनी मन: स्थिति के अनुसार प्रकृति में हर्ष और विषाद का अनुभव करता है। यहाँ प्रकृति का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता। संयोग और वियोग दोनों ही अवस्था में उसका एक ही उपयोग है—मनोगत भावों को उद्दीप्त करना। रीतिकाल के अधिकांश कवियों ने प्रकृति के इसी रूप को ग्रहण किया है। ये संयोग में षड्ऋतु का और वियोग में बारहमासे का सहारा ले बँधी-बँधाई परिपाटी पर प्रकृति-चित्रण करते रहे हैं।

शृंगार-रस के आलम्बन नायक-नायिका के वर्णन पर इस काल के कवियों की दृष्टि इस प्रकार जमी रही कि इस विषय को छोड़कर उनके सामने काव्य-रचना का अन्य आदर्श कम रह गया था। इस एक ही विषय पर अनेक कवियों द्वारा बार-बार लिखा गया। इससे शृंगार-रस पर इतना प्रचुर मात्रा में साहित्य तैयार हुआ कि अन्य रसों की रचनाएँ उसमें छिप-सी गईं। शृंगाररस की एकरसता से पाठक ऊब भी गया। एक ही विषय की बँधी-बंधाई लीक पर चलने का यह परिणाम हुआ कि काव्य की प्रगति रुक गई। नवीन युक्तियों और उद्भावनाओं की सीमा संकुचित हो गई।

जिस समय नायक-नायिका पर रचनाएं हो रही थीं उस समय सन्तों और जैन कवियों की लिखी एक साहित्यिक धारा और प्रवाहित थी। इस धारा की मूल मनोवृत्ति शृंगारिक रचनाओं से भिन्न थी। इस धारा के कवियों ने तत्का-लीन 'रस-काव्य' का विरोध किया है। केशव की 'रसिकप्रिया' के विरोध में एक जैन कवि 'सुन्दरदास' ने लिखा है—

'रसिक-प्रिया रसमंजरी और सिंगारहिं जानि।
चतुराई करि बहुत विधि विषै बनाई आनि॥
विषै बनाई आनि, लगत विषयनि को प्यारी।
जागै मदन प्रचण्ड, सराहे नख सिख नारी॥
ज्यों रोगी मिष्ठान्न खाइ, रोगहिं विस्तारे।
"सुन्दर" यह गति होइ, जु तौ "रसिक-प्रिया" धारे॥'[1]

एक दूसरे जैन कवि श्री भूधरदास जो पद्माकर के समसामयिक थे लिखते हैं—

'राग उदय जग अंध भयो,
सहजै सब लोगन लाज गँवाई।
सीख बिना नर सीखत हैं,
विषयानि के सेवन की सुघराई।
तापर और रचें रसकाव्य,
कहा कहिए तिनकी निठुराई।
अंध असूझनि की अँखियान में,
झोंकत हैं रज राम दुहाई॥'

इनसे प्रकट होता है कि उस काल में ही लोग नायिकाभेद पर लिखी जा रही रचनाओं का विरोध कर रहे थे। इस प्रकार की रचनाओं के प्रभाव से समाज की नैतिकता गिर रही थी। किन्तु सब कुछ यही न था। नैतिकता तो गिरी हुई थी ही। उस समय समाज मुमूर्षु, और पंगु था। कहाँ तक इन रचनाओं ने उसको और पंगु बनाया कहा नहीं जा सकता। ये रचनाएं लिखी ही

---

१. 'वीणा' वर्ष ३१, अंक ३

उनके लिए गई थीं जो विलासप्रिय थे। जिनके बगल में सुरा, सुराही और सुन्दरी थी। इतना होने पर भी नायक-नायिका वर्णन ब्रजभाषा के भाल पर कलंक का टीका नहीं, अपितु उसके सौन्दर्य की वृद्धि करता है। यदि उसके वर्णन में कहीं औचित्य और मर्यादा का उल्लंघन हुआ है तो उसके लिए यह सम्पूर्ण साहित्व गर्हित नहीं हो सकता। फिर कला की दृष्टि से ये रचनाएं खरी उतरती हैं। संस्कृत-साहित्य में वर्णित इस विषय को कवियों ने ब्रजभाषा-साहित्य में लाकर हिन्दी के पाठकों के लिए इन्हें सुलभ किया है।

भाषा और छन्द

भक्तिकाल में ब्रजभाषा प्रौढ़ हो गई थी। उसमें सहज प्रवाह आ गया था। इस काल में वह रीतिग्रस्त हुई। कवियों की रुचि अपनी रचनाओं को चमत्कार-पूर्ण बनाने की ओर होने से भाषा स्वभावतः अलङ्करण की ओर झुकती गई। इस काल के कवियों ने प्रधानतः शृंगार-रस (नायिकाभेद) के भीतर ही रस, ध्वनि, अलङ्कार आदि का प्रतिपादन लक्षण-उदाहरण वाली पद्धति पर किया है। इनके उदाहरण एक ओर जहाँ भावात्मक और हृदयग्राही हैं वहाँ दूसरी ओर उसमें व्यंजनात्मक और लक्षणात्मक शक्ति, अलंकारों का सौन्दर्य, उक्ति की विचित्रता आदि भी पूर्ण रूप से भरे दिखाई देते हैं। शृंगाररस स्वयं मधुर होने से इन लोगों ने ब्रजभाषा का जो रूप उसमें अपने भावचित्र उतारने के लिए स्थिर किया वह अवश्य उनकी प्रतिभा का परिचायक है। अपनी रचनाओं में उन्होंने कोमल और सुमधुर शब्दों को चुन-चुन कर रखा तथा कर्णकटु और कर्कश शब्दों का सप्रयास वहिष्कार किया। शब्दों को नाद-सौन्दर्य, अर्थ चमत्कार उक्ति-वैचित्र्य आदि से उन्होंने युक्त किया। तात्पर्य यह कि इन कवियों की भाषा शब्द और अर्थ शक्ति से युक्त, मधुर, रमणीय और प्रांजल है।

एक बात यह भी है कि ब्रजभाषा को दोषयुक्त बनाने का लांछन भी अधिकतर इसी काल के कवियों पर है। कुछ प्रमुख कवियों जैसे बिहारी, मतिराम, देव, पद्माकर, घनानन्द आदि को छोड़कर अन्य कवियों ने भाषा को विकृत

करने में कोर-कसर भी नहीं छोड़ी है। अपने काव्य को चमत्कृत करने तथा उसमें ऊंची उड़ान भरने के लिए उन्होंने मनगढ़न्त शब्दों के निःसंकोच प्रयोग किए हैं—

'सुथरी सुशीली सुयशीली सुरशीली अति,
लक लचकीली काम-धनुष हलाका-सी।
कहै कवि 'तोष' होती सारी तें निनारी जब,
कारी बदरी ते कढ़ै चन्द की कलाका-सी।
लोने लोने लोयन पै खंजन चमक वारौं
दन्तन चमक चारु चंचला चलाका-सी।
साँवरे सुजान कान्ह तुम्ह से छिपाऊँ कहा,
सेज पै सोवाऊँ आनि सोने की सलाका-सी॥

इस काल की रचना में ऐसे बहुत से पद हैं। इसमें 'सलाका' शब्द के वजन पर तुक मिलाने के लिए 'हलाका', 'कलाका' और 'चलाका' का मनगढ़न्त प्रयोग वांछनीय नहीं है। इनकी रचनाओं में शब्दों के विकृत प्रयोग भी हुए हैं—'भूख लगै तब देत हैं भोजन, प्यास लगै तो पियावन पाने'—पद्माकर। यह 'पद्माकर' की रचना है जिसमें 'पानी' के स्थान में 'पाने' का प्रयोग किया गया है। शब्दों के विकृत प्रयोग को ये लोग काव्य की छूट मानते थे। इसी प्रकार इनकी रचनाओं में दूसरी भाषाओं के शब्दों यहाँ तक कि क्रियाओं के भी प्रयोग हुए हैं। इस अव्यवस्था के प्रधान कारण दो थे। एक तो ब्रजभाषा में गद्य का अभाव होने से उसमें भाषा सम्बन्धी गड़बड़ी बढ़ गई थी। दूसरे, भाषा पर नियंत्रण रखने के लिये कोई व्याकरण न था। केवल एक ब्रजभाषा व्याकरण 'तुहफ़त-उल-हिन्द' का पता चलता है जिसे औरंगजेब के पुत्र आजमशाह ने लिखवाया था। यह व्याकरण फारसी में होने के कारण अधिक लाभप्रद सिद्ध न हुआ। इसलिए तत्कालीन ब्रजभाषा अनुशासन रहित थी। यदि व्याकरण का अनुशासन

रहा होता तो शब्दों को तोड़-मरोड़ कर विकृत करने का इतना साहस कवियों को न होता ।

इसीसे ब्रजभाषा के शब्दों में एकरूपता स्थापित न हो सकी । फिर भी भाषा की दृष्टि से इस काल के कवि बहुत नीचे नहीं गिरे हैं । इस काल की ब्रजभाषा में कोमलकांत पदावली की ही अतिशयता रही है ।

रीतिकारों ने मुख्यतया तीन छन्दों का प्रयोग किया है—(१) दोहा, (२) सवैया, और (३) कवित्त । रोला और सोरठा दोहा की ही जाति के हैं । दोहा के समान छोटे छन्द में वही कवि सफल होता है जिसमें कल्पना की समाहार-शक्ति के साथ भाषा की समास-शक्ति पर पूर्ण अधिकार हो । बिहारी में यह क्षमता थी । इसीसे वे 'सतसई' की रचना में सफल हुए हैं । कवित्त का प्रयोग इस काल में सबसे अधिक हुआ है । कवित्त शृंगार और वीर दोनों रसों में प्रयुक्त किया गया है । 'देव' और 'पद्माकर' के कवित्त गठन की दृष्टि से अद्वितीय हैं । सवैया का प्रयोग अधिकतर शृंगार-रस के भीतर हुआ है । 'मतिराम' के सवैये बड़े सुन्दर और ललित हैं ।

विशेष

हमारे जातीय साहित्य में कविता कोरे मनबहलाव की वस्तु कम मानी गई है । आचार्यों और कवियों ने सदैव कविता द्वारा किसी महान उद्देश्य की पूर्ति बताया है । भक्तिकाल में काव्य-कला को साध्य न मानकर साधन माना है । इसके विपरीत रीतिकाल में कला-पक्ष की प्रधानता है । धार्मिक, सामाजिक, राजनीतिक आदि किसी भी उद्देश्य को लेकर रीतिकाल में कविता नहीं लिखी गई है । इसीसे उसमें व्यापक जीवन-दर्शन का अभाव है । कला द्वारा कविता के बाह्य सौंदर्य में वृद्धि तो हुई है, किन्तु बहुत कुछ उसकी आत्मा संकुचित हो गई है । जीवन और कविता का नैसर्गिक साथ छूट गया है । संक्षेप में रीति

काल की कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ रही हैं—(१) संस्कृत-काव्य ग्रन्थों की नकल, (२) कवियों में आचार्यत्व की प्रवृत्ति, (३) आश्रयदाताओं की प्रशंसा, (४) नायक-नायिका भेद निरूपण, (५) अलंकार निरूपण, (६) बारहमासा, और (७) षड्ऋतु वर्णन आदि। इसके अतिरिक्त कुछ वीर-भावना, भक्ति-भावना, नीति-उपदेश पर भी रचनाएं इस काल में हुई हैं। काव्य में भावों की कोमलता, प्रेम एवं सौन्दर्य की अनुभूति, कल्पना की उड़ान, वैचित्र्य-प्रदर्शन की भावना आदि प्रधान रूप से दृष्टिगोचर होते हैं।

इस काल में कतिपय रचनाओं को छोड़कर जो खड़ीबोली और अवधी में लिखी गई हैं, शेष सम्पूर्ण काव्य ब्रजभाषा में है। इसके दो कारण थे। कवियों ने ब्रजभाषा को एक तो श्रुतिमाधुरी की प्रधानता के कारण ग्रहण किया और दूसरे, इस भाषा का व्यापक प्रचार भक्तिकाल में ही उत्तर भारत में हो गया था। इसीसे कवियों ने ब्रजभाषा को अपनाया और उसको महत्ता प्रदान की।

रीति-परम्परा का अन्त इसी काल में नहीं हो जाता। इस परम्परा का अनुसरण कर आधुनिक युग में भी रचनाएं होती रही हैं। आधुनिक युग में इस विषय पर लिखे गए प्रमुख ग्रन्थ हैं—रामदास का 'कवि-कल्पद्रुम', मुरारिदान का 'जसवन्त जसो भूषण', प्रतापनारायण का 'रसकुसुमाकर', भानु का 'काव्य प्रभाकर', पोद्दार का 'काव्य-कल्पद्रुम', रसाल का 'अलंकार-पीयूष', केडिया का 'भारती-भूषण', हरिऔध का 'रसकलश', बिहारीलाल भट्ट का 'साहित्यसागर' मिश्रबन्धु का 'साहित्य पारिजात' आदि। अधिकांश रचनाएं इनमें व्याख्यात्मक हैं। इनके अतिरिक्त फुटकल रचनाएं बहुत हैं, और आज दिन भी इस विषय पर उसी चाव से रचनाएँ हो रही हैं।

इस काल की कविता अनेक दोषों से युक्त होने पर भी कवित्व की दृष्टि से हिन्दी-साहित्य में विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान रखती है। बाबू श्यामसुन्दरदास के शब्दों में—

'तत्कालीन कवियों की कृतियाँ विशृङ्खल, निरंकुश और उद्दाम हैं, उनमें कहीं उच्चातिउच्च भावनाएं कलुषित प्रसंगों के पास खड़ी हैं तो कहीं सौन्दर्य और प्रेम के मर्मस्पर्शी उद्‌गार अतिशयोक्ति और बात की करामात से घिरे हैं।....जैसे किसी को कुछ कहना ही न हो, कविता केवल दिल बहलाव के लिए गपशप या ऐयाशों की बहक को हुँकारी हो। यह सब होते हुए भी कुछ प्रतिभाशाली कवियों की कृतियाँ रीति की सामान्य शैली से बहुत ऊपर उठकर मुक्तक छन्दों में जैसी सुन्दर और तीव्र भाव-व्यंजना करती हैं, उससे कवियों के हार्दिक आन्दोलन का पता लगाया जा सकता है।

कवि

केशवदास, सेनापति, बिहारी, भूषण, मतिराम, देव, भिखारीदास, बेनीप्रवीन, पद्माकर, घनानन्द, ग्वाल की गणना इस काल के श्रेष्ठ कवियों में है। केशवदास और सेनापति भक्तिकाल के कवि हैं, पर उनके काव्य का मूल्याङ्कन रीतिकाल के कवियों ही के साथ उत्तमता से हो सकता है।

केशवदास रीति-काव्य के आदि आचार्यों में हैं। 'सूर' सूर 'तुलसी' ससी, उड़गन 'केशवदास' के अनुसार हिन्दी-कविता में इन्हें तीसरा स्थान प्राप्त है। इन्होंने काव्यशास्त्र पर 'कविप्रिया' और 'रसिकप्रिया' ग्रन्थ लिखे। इन ग्रन्थों में अलंकार का ही विशेष वर्णन है। केशव अलंकार-प्रिय थे। इनका सिद्धान्त है-

'जदपि सुजाति सुलच्छनी, सुबरन सरस सुबृत्त।
भूषन बिनु न बिराजई, कविता बनिता मित्त॥'

अधिक अलंकार योजना के कारण ही इनके काव्यों में अनेक स्थलों पर कृत्रिमता, जटिलता, दुरूहता तथा अस्पष्टता आ गई है। इनकी अन्य रचनाएं

'रामचन्द्रिका', 'वीरसिंह देव चरित' 'विज्ञानगीता', 'रतनबावनी' 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' हैं। इनमें 'रामचन्द्रिका' मुख्य है।

सेनापति अपने उक्ति-चमत्कार और ऋतु वर्णन के लिए प्रसिद्ध हैं। भाषा पर इनका पूर्ण अधिकार है। 'कवित्त-रत्नाकर' इनकी प्रसिद्ध रचना है। इनमें पाँच तरंग हैं। पहली तरंग में श्लेष वर्णन, दूसरी में शृंगार वर्णन, तीसरी में ऋतु वर्णन, चौथी और पाँचवीं तरंगों में राम की भक्ति-भावना का वर्णन है। इन जैसा ऋतु वर्णन किसी अन्य शृंगारी कवि ने नहीं किया है। प्रकृति को इन्होंने आलम्बन-रूप में अपनाया है। ग्रीष्म की प्रखरता का वास्तविक वर्णन देखिए—

'बृष कौं तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत है।
तचति धरनि जग जरत झरनि, सीरी
छाँह कौं पकरि पंथी-पंछी बिरमत हैं॥
सेनापति नैंक दुपहरी ढरकत होत,
धमका विषम, ज्यौं न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौं सीरी ठौर कौं पकरि कौंनौं,
घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है॥'

बिहारी की गणना हिन्दी-साहित्य के सर्वश्रेष्ठ कवियों में हैं। शृंगार-मुक्तक रचनाकारों में इनके जोड़ का कोई नहीं है। इनकी रचना 'सतसई' है। यह दोहों में है। इसी रचना से इनको इतनी बड़ी ख्याति मिली है। यह रचना रीति-वद्ध न होने पर भी रीति का उस पर पूर्ण प्रभाव है। उसमें अलंकार, नायिकाभेद, नखशिख, षड्ऋतु आदि सभी के उदाहरण मिलते हैं। कवि की भाव-व्यंजना, वस्तु-व्यंजना, अलंकार आदि की छटा इस ग्रन्थ में देखते ही

बनती है। इनके छोटे-छोटे दोहों में भाव-व्यंजना के साथ भाषा (ब्रजभाषा) की सफाई अवलोकनीय है—

'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास यहि काल।
अली कली ही सौं विन्ध्यौ, आगे कवन हवाल॥'

'बतरस लालच लाल के मुरली धरी लुकाइ।
सौंह करै भौंहनि हँसै, देन कहै नटि जाइ॥'

इन पदों में भाव तो मधुर और सजीव हैं ही भाषा भी इतनी प्रांजल और प्रसाद पूर्ण है कि पदों के पढ़ने में थोड़ा भी श्रम नहीं करना पड़ता। वाणी अपने आप फिसलती चलती है। इन्होंने इस काल के अन्य कवियों के समान ब्रजभाषा के शब्दों का न अधिक तोड़-फोड़ किया है और न मनगढ़न्त शब्दों का ही प्रयोग किया है। इनकी रचना में ब्रजभाषा का स्वच्छ, सरस और साहित्यिक प्रयोग हुआ है। ब्रजभाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था।

भूषण वीर-रस के कवि हैं। इस काल में जब अन्य कवि आमूल-चूल शृंगार-रस में डूबे हुए थे, उस समय भूषण ने हिंदू-जाति और धर्म के रक्षक शिवाजी और छत्रसाल का गुणगान वीरकाव्य में किया। इनकी प्रमुख रचनाएँ 'शिवराज भूषण', 'शिवाबावनी' और 'छत्रसाल दसक' हैं। शिवाजी और छत्रसाल ऐसे उपयुक्त नायकों को पाकर भी ये प्रबंध काव्य न लिख सके। युग के प्रभाव के अनुसार अपनी रचनाएँ मुक्तक में ही इन्होंने प्रस्तुत की हैं। इनकी ब्रजभाषा ओजपूर्ण होते हुए भी शब्दों की विरूपता लिये हुए है। मनगढ़न्त शब्दों के भी कहीं-कहीं प्रयोग हुए हैं। यह बहुधा कहा जाता है कि शृंगार-रस के अलावा अन्य रसों जैसे वीर, रौद्र आदि की कविता लिखने में ब्रजभाषा हकलाने लगती है। इस लांछन के परिहार में उदाहरण स्वरूप भूषण के वीर-रस के कवित्त पेश किए जा सकते हैं। एक कवित्त इस प्रकार है—

'इन्द्र जिमि जंभ पर, बाड़व सुअंभ पर,
रावन सदंभ पर रघुकुल राज हैं।
पौन बारिवाह पर, सम्भु रतिनाह पर,
ज्यों सहस्रबाहु पर राम द्विजराज हैं।
दावा द्रुमदन्ड पर, चीता मृगभुन्ड पर,
भूषण वितुंड पर जैसे मृगराज हैं।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
त्यों म्लेछ-बंस पर सेर सिवराज हैं।'

मतिराम और देव अपने युग के प्रतिनिधि कवियों में से हैं। दोनों कवियों की रचनाएँ रीतिबद्ध हैं। इन लोगों ने लक्षण-ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं। मतिराम अपनी ललित पदावली के लिए प्रसिद्ध हैं। भाषा और भाव दोनों में उनकी रचना की नैसर्गिकता, प्रांजलता और सरसता देखने में आती है। इनके प्रमुख दो ग्रन्थ हैं—'ललित ललाम' और 'रसराज'। देव की काव्य-प्रतिभा की जितनी प्रशंसा की जाए सब थोड़ी है। इन्होंने प्रभूत परिमाण में उत्कृष्ट रचना की है। देव-रचित ग्रंथों की संख्या कोई बहत्तर और कोई बावन बतलाते हैं। इनमें कुछ प्रमुख रचनाएँ हैं—'भावविलास', 'अष्टयाम','भवानी-विलास' 'रस-विलास', 'प्रेम-चंद्रिका', 'रागरत्नाकर', 'सुजान-विनोद', 'जगतदर्शन पच्चीसी', 'प्रेम पच्चीसी', 'शब्द रसायन', 'सुखसागर तरंग', 'प्रेमतरंग', 'कुशल विलास', 'जाति विलास' 'देवचरित', 'देवमाया प्रपंच' आदि। देव की भाषा साहित्यिक ब्रजभाषा है जिसमें शब्द और अर्थगत मिठास भरा हुआ है। व्याकरण सम्बन्धी दोष से भी वह बहुत-कुछ मुक्त है। 'मतिराम' और 'देव' दोनों की भाषा सदैव उनके भावों की अनुगामिनी रही है। निम्न पदों में उन्होंने मानव-मनोभावों को कितनी उत्तमता से चलती और प्रभावशाली ब्रजभाषा में व्यक्त किया है—

'कुन्दन कौ रँगु फ़ीकौ लगै, झलकै अति अंगन चारु गोराई ।
आँखिन में अलसानि, चितौनि में मंजु, विलासन की सरसाई ।।
को बिन मोल बिकात नहीं, मतिराम लहै मुसुकानि-मिठाई ।
ज्यों-ज्यों निहारिए नेरे ह्वै नैननि, त्यों-त्यों खरी निकरै सी निकाई ।।'

—मतिराम

'झहरि झहरि झीनी बूँद परति मानों,
घहरि घहरि घटा घेरी है गगन में
आनि कह्यो स्याम मोसौं चलि झूलिबे को आज,
फूली ना समानी भई ऐसी हौं मगन मैं ।।'
चाहत उठ्योई उठि गई सो निगोड़ी नींद,
सोय गए भाग मेरे जागि वा जगन में ।
आँख खोलि देखौं तौ न घन हैं, न घनस्याम,
वेइ छाई बूँदै मेरे आँसु ह्वै दृगन में ।।'

—देव

आचार्य भिखारीदास का स्थान इस काल के साहित्य-शास्त्रियों में उच्च है । इनकी अनेक रचनाएं हैं जिनमें 'काव्य-निर्णय', 'शृंगार-निर्णय' और 'छन्दार्णव पिंगल' अधिक प्रसिद्ध हैं । इन ग्रन्थों में काव्यांगों पर विस्तृत निरूपण है । इनकी ब्रजभाषा शब्दाडम्बर रहित चुस्त और साहित्यिक है । सरल, सुस्पष्ट भाषा और भाव का यह एक सुन्दर उदाहरण है—

नैनन को तरसैए कहाँ लौं, कहाँ लौं हियो बिरहागि में तैए ?
एक घरी न कहूँ कल पैए, कहाँ लगि प्रानन को कल पैए?

आवै यही अब जी में विचार सखी चलि सौतिहुँ के घर जैए।
मान घटे ते कहा घटिहै जु पै प्रानपियारो को देख न पैए ॥

—भिखारीदास

घनानन्द ने रीति-परिपाटी का अन्धानुकरण नहीं किया है। इनकी रचनाओं में इनकी स्वच्छन्द और उन्मुक्त प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'घनानन्द कवित्त', 'घनानन्द पदावली', 'सुजानहित', 'कृपाकन्द निबन्ध' आदि। ब्रजभाषा पर इनका पूर्ण अधिकार था। किसी कवि ने इनको 'ब्रजभाषा-प्रवीण' की उपाधि दी थी। सचमुच इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा की जैसी स्वाभाविकता, सरसता, सरसता एवं संगीतात्मकता देखने को मिलती है वैसी अन्यत्र बहुत कम दिखाई देती है। भाषा-प्रवाह का यह एक अत्यन्त सुन्दर उदाहरण है—

'कारी कूर कोकिला कहाँ को बैर काढ़ति री।
कूकि कूकि अब ही करेजो किन कोरि लै ॥
पैंड़ परे पापी ये कलापी निसद्यौस ज्यों ही।
चातक रे घातक ह्वै तू हू कान फोरि लै ॥
आनन्द के घन प्रान-जीवन सुजान बिना।
जानि कै अकेली सब घेरो-दल जोरि लै ॥
जौ लौं करैं आवन विनोद-बरसावन वे,
तौ लौं रे डरारे बजमारे घन घोरि लै ॥'

पद्माकर इस काल के अन्तिम प्रतिभा सम्पन्न कवि हैं। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं—'हिम्मत बहादुर विरदावली' 'जगद्विनोद', 'पद्माभरण', 'प्रबोध पचासा' और 'गंगालहरी'। इन्होंने श्रृंगार, वीर और शान्त तीनों रसों में सफल रचनाएँ की हैं। इनकी रचनाओं में ब्रजभाषा इठलाती चलती है। कहीं

वह स्निग्ध, मधुर और साफ-सुथरी है तो कहीं वीर-दर्प से झंकृत। इनकी साफ-सुथरी भाषा का यह एक नमूना है—

'भौंरन को गुंजन, बिहार बन कुंजन में।
मंजुल मलारन को गावनो लगत है॥
कहै पद्माकर गुमान हूँ तें मानहू तें।
प्रानहूँ तें प्यारो मनभावनो लगत है॥
मोरन को सोर घन घोर चहुँ ओरन।
हिंडोरन को बृन्द छवि छावनो लगत है॥
नेह सरसावन में मेह बरसावन में,
सावन में झूलिबो सुहावनो लगत है॥'

इन कतिपय रससिद्ध कवियों के अतिरिक्त इस रीतिकाल में और भी अनेक श्रेष्ठ कवि हुए है जिन्होंने ब्रजभाषा को खूब सजाया और सँवारा है। साथ-साथ इनकी उत्तम रचनाओं द्वारा उसके कोश की वृद्धि भी हुई है।

गद्य

ब्रजभाषा का गद्य इस काल में तीन रूपों में प्राप्त है—(१) टीकाओं में, (२) अनुवादों में, और(३) मौलिक रचनाओं में इनमें प्रधानता टीकाओं की है। ब्रजभाषा के पद्य में अबतक ऐसे ग्रन्थों का निर्माण हो चुका था जिनके समझने के लिए टीकाओं का लिखा जाना स्वाभाविक हो गया था। बिहारी-सतसई पर जो इस काल की एक सर्वश्रेष्ठ रचना है, सबसे अधिक टीकाएँ लिखी गईं। कुछ मुख्य उपलब्ध टीकाओं के नाम हैं—(१) कृष्णकवि की 'बिहारी-सतसई की टीका' (सन् १७२८-३३ ई०), सूरतिमिश्र की 'अमर चन्द्रिका' (१७३७ ई०), रघुनाथ की 'बिहारी सतसई की टीका' (सन् १७३६-५० ई०), ठाकुर कवि का सतसैयावरणार्थं (१७४३ ई०), हरिचरणदास की 'बिहारी

सतसई की टीका' (१७७७ ई०), लल्लूलाल की 'लालचन्द्रिका' (१८१८ ई०) आदि। बिहारी सतसई के बाद केशवदास कृत 'रसिकप्रिया' व 'कविप्रिया' पर टीकाएँ मिलती हैं। सूरतिमिश्र की 'कविप्रिया' पर 'कविप्रिया-तिलक' और 'रसिकप्रिया' पर 'रस ग्राहक चन्द्रिका', हरिचरनदास की 'कविप्रिया की टीका' लछिमनराव की 'कविप्रिया की टीका', सरदार कवि की 'रसिकप्रिया' की टीका आदि हैं। मतिराम कृत 'रसराज' पर प्रतापसाहि की टीका और जसवन्तसिंह कृत 'भाषाभूषण' पर हरिचरनदास की टीका बनीं। इनके अतिरिक्त प्रियादास की लिखी हुई गोस्वामी हितहरिवंश के चौरासी पदों पर 'स्फुट-पद टीका', रामजन की लिखी हुई 'दृष्टान्त सागर की टीका' और 'टीका-संयुगतिवचनिका (१७८२ ई०), बाबा रामचरन की रामचरितमानस की टीका (सन् १७८४-८७ ई०), बालकृष्णदास की 'सूरदास कृत कूट' (सटीक) आदि और हैं। संस्कृत ग्रंथों पर भी टीकाएँ लिखी गई हैं। श्री विट्ठलनाथ जी की 'नवरत्न' पर टीका प्राप्त है।

ब्रजभाषा-गद्य में अनूदित ग्रंथ प्राय: संस्कृत-साहित्य से किए गए हैं। कुछ ग्रन्थ फारसी से भी अनूदित हैं। अनूदित ग्रन्थों में कुछ में केवल गद्य और कुछ में गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा का प्रयोग किया गया है। संस्कृत से अनूदित किए गए ग्रंथ हैं—भगवानदास का गीता का अनुवाद 'भाषामृत' (१६६६ ई०), किसी अन्य का 'भगवद्गीता भाषा', दामोदरदास का मार्कण्डेय पुराण का अनुवाद, सूरतिमिश्र का 'वैतालपंचविंशति' का अनुवाद, लल्लूलाल की 'हितोप-देश-भाषा सटीक' आदि। गद्य-पद्य मिश्रित ब्रजभाषा में मनोहरदास निरंजनी का वेदान्त विषयक किसी ग्रन्थ का 'षट्दर्शनी निर्णय' (सन् १७६६ ई०), तथा आनन्दराम का गीता का अनुवाद (१७०४ ई०) मुख्य हैं। फारसी से अनूदित ग्रन्थों में लाला हीरालाल की 'आईन-अकबरी की भाषा वचनिका' (१७९५ ई०) मुख्य है। मौलिक ग्रंथों में बख्शी समनसिंह का 'पिंगल-काव्य-भूषण', महाराज मानसिंह का 'नाथ-प्रशंसा' (ऋतु वर्णन), जयगोविन्द वाज-पेयी का 'कविसर्वस्व', व्यास का शकुन विचार सम्बन्धी ग्रन्थ आदि मुख्य हैं। इनके अलावा और बहुत से ब्रजभाषा-गद्य ग्रंथों का खोज द्वारा पता चला है।

पर, इन सब ग्रन्थों में ब्रजभाषा गद्य का स्वरूप बड़ा अव्यवस्थित है। भक्ति काल के वैष्णव वार्ताओं में जैसा परिष्कृत और व्यवस्थित रूप उसका दिखलाई दिया था वैसा भी रीतिकाल में न रहा। टीकाओं आदि की भाषा अशक्त और अनगढ़ है। प्रतापसाहि द्वारा लिखी गई मतिराम के 'रसराज' की टीका की भाषा इस प्रकार है—

'कवि मतिराम कहै कै मैंने जो रसराज ग्रन्थ कियौ
सो जे रसिक रस के जाननवारे सज्जन अरु
कविन के समाज ते सुनि समुझि कैं सब रीझि हैं।'

ब्रजभाषा पद्य की साहित्यिक भाषा थी, किन्तु उसका रूप गद्य में न मँजा। इसके कई कारण थे। एक तो ब्रजभाषा-गद्य को धर्माश्रय और राजाश्रय न मिलने से उसकी कोई अनवरत परम्परा न चली जिससे उसकी उन्नति होती। दूसरे, ब्रजभाषा-गद्य का प्रयोग साहित्यकारों ने उन विषयों तक में नहीं किया जिनको गद्य के माध्यम से व्यक्त होना चाहिए था। वैद्यक, गणित आदि भी पद्य के माध्यम से व्यक्त किए जा रहे थे। तीसरे, प्रेस के पहले गद्य की उपयोगिता भी कम थी। इससे भी ब्रजभाषा-गद्य आगे न बढ़ सका। कारण कुछ भी हो ब्रज-भाषा-गद्य का सम्यक विकास न होने से ही उसको परवर्ती युग में साहित्यिक भाषा के पद से हटना पड़ा। उसके पतन का सबसे बड़ा कारण यही है कि वह आगे आने वाले युग (वर्तमान काल) की गद्य के लिए बढ़ती हुई माँग की पूर्ति न कर पाई। दूसरे, ब्रजभाषा में गद्य के अभाव के कारण जिस विश्लेषणात्मक विवेचनात्मक शैली का प्रादुर्भाव रीतिकाल में हो जाना चाहिए था वह न हो सका।

अध्याय ५

ब्रजभाषा का ह्रास-काल

सन् १८०० ई० के उपरान्त

प्रवेश

जहाँ मध्ययुग ब्रजभाषा के उत्कर्ष का युग है, वहाँ वर्तमान काल उसके अवनति एवं अपकर्ष का। ब्रजभाषा हिन्दी-साहित्य में काव्यभाषा के रूप में दीर्घकाल तक लगभग ३५० वर्ष बनी रही। 'सूर' से लेकर 'पद्माकर' तक, जब तक साहित्य में पद्य की महत्ता रही उसकी प्रतिद्वन्द्विता किसी भाषा ने नहीं की। वर्तमान काल में गद्य की आवश्यकता ने उसे पीछे ढकेल दिया। यहाँ तक कि वह काव्यभाषा के वांछनीय पद से भी खड़ीबोली द्वारा अपदस्थ कर दी गई।

१८ वीं शती के मध्य से लेकर १६ वीं शती के मध्य तक का समय भारतवर्ष के इतिहास में अंधकारयुग माना जाता है। इस काल में भारतवर्ष राजनीतिक निर्बलता और नैतिक पतन के निम्न-स्तर पर था। साहित्य, कला, धर्म, विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में सृजनात्मक शक्ति का अभाव था। समाज मुमूर्षु था और वह विविध प्रकार की रूढ़ियों में फँसा हुआ था। राजनीति के क्षेत्र में शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता का सर्वथा अभाव था। देश में चारो ओर अराजकता और अव्यवस्था की स्थिति बनी हुई थी। हमारी इन्हीं सामाजिक और राजनीतिक दुर्दशा से लाभ उठाकर अंग्रेज जाति जिसका प्रवेश देश में एक व्यापारी की हैसियत से हुआ था, यहाँ अपना साम्राज्य स्थापित करने में पूर्ण सफल हुई। सन् १८५७ ई० के उपरान्त अंग्रेजों ने देश में चारो ओर शान्ति स्थापित कर ली। इससे साहित्य, कला आदि को पुन: आगे बढ़ने का सुअवसर मिला।

खड़ीबोली गद्य का प्रसार

अंग्रेज जाति एक जीवित जाति थी। वह अपने साथ अपने विचार और जीवनमान भी ले आई। उसके सम्पर्क ने हमें अत्यधिक प्रभावित किया। हमारी प्राचीन लड़खड़ाती हुई विचारधाराओं, प्रणालियों और रूढ़ियों को गहरा धक्का लगा और धीरे-धीरे वे विलुप्त होने लगीं। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सुधारवादी आन्दोलन चले। नवीन सृजनात्मक शक्तियाँ सामने आईं। साहित्य का क्षेत्र भी इससे अछूता न बचा। भाषा, भाव, विषय, शैली सभी में नवीनता का प्रादुर्भाव हुआ। अंग्रेजी साहित्य में इतिहास, गल्प, नाटक, उपन्यास आदि का विकास हो चुका था। हमारे यहाँ साहित्य के क्षेत्र में विचारों की अभिव्यक्ति अब तक प्रधानत: कविता के माध्यम से हो रही थी। किन्तु इस नवीन प्रभाव से वह साहित्य के भिन्न-भिन्न रूपों—उपन्यास, कहानी, नाटक, निबन्ध, आलोचना आदि में दृष्टिगोचर होने लगी। तात्पर्य यह कि साहित्य के विभिन्न अंगों की पूर्ति गद्य द्वारा होने लगी।

सन् १८३५ ई० में मुद्रणालय का प्रवेश भी हिन्दी-क्षेत्र में हुआ। मुद्रणालय की स्थापना ने गद्य की अभिवृद्धि में पूर्ण योग दिया। समाचार पत्रों,

कहानियों, निबन्ध आदि का नित्य प्रकाशन प्रेस के द्वारा सम्भव हो सका। प्रेस के पूर्व गद्य की उपयोगिता साहित्य में नगण्य थी। प्रेस ने गद्य को लोकप्रिय बना दिया और उसकी खूब उन्नति हुई। यह 'गद्य' खड़ीबोली का गद्य था। ब्रजभाषा यहीं पिछड़ गई।

खड़ीबोली-गद्य की अभिवृद्धि में अन्य शक्तियों ने भी परोक्ष-अपरोक्ष रूप से बल दिया। तत्कालीन अंग्रेज कर्मचारियों की शिक्षा का माध्यम वही बनाई गई। देशी जनता की शिक्षा के लिए जो सरकारी अथवा गैर सरकारी संस्थाओं द्वारा प्रयत्न किए गए उनसे भी खड़ीबोली-गद्य को लाभ पहुँचा। ईसाईधर्म-प्रचारकों का कार्य भी इस दिशा में महत्वपूर्ण था। कुछ सम्प्रदायवादियों और साम्राज्यवादियों ने उर्दू के नाम पर जिस 'हिन्दुस्तानी' को उठाया उससे भी अपरोक्ष रूप में खड़ीबोली ही की उन्नति हुई। हमारी सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि प्रतिद्वन्द्विताओं के बढ़ जाने पर आर्य-समाज और काँग्रेस जैसी संस्थाओं की स्थापना हुई। इनकी कार्य-प्रणालियों के माध्यम की भाषा खड़ीबोली बनी। इससे भी वह समृद्ध और सशक्त हुई। इसके साथ ही पाश्चात्य विज्ञान हिन्दी-साहित्य में जिस नवीन दृष्टिकोण को जन्म दे रहा था उससे भी खड़ीबोली-गद्य की समुचित उन्नति हुई। क्योंकि, विज्ञान को कठोर सत्य चाहिए और इसकी रक्षा जैसी गद्य में हो सकती है वैसी पद्य में नहीं। इसी समय १९वीं शती के उत्तरार्द्ध में कचहरियों की भाषा के लिए हिन्दी और उर्दू में एक गम्भीर प्रतिद्वन्द्विता चली। उर्दू के समर्थक जहाँ हिन्दी के अन्य दोष दिखलाते थे वहाँ यह भी कहते थे कि 'उर्दू के तो गद्य और पद्य की भाषा एक है, हिन्दी को तो यह गौरव भी प्राप्त नहीं।' हिन्दी और उर्दू का यह झगड़ा भी खड़ीबोली की उन्नति का एक प्रधान कारण बना। इसने हिन्दी के तत्कालीन विद्वानों की दृष्टि इस दोष की ओर आकर्षित की। उन लोगों ने हिन्दी की इस कमजोरी को समझा। ब्रजभाषा में पद्य तो था, किन्तु उसका गद्य अविकसित अवस्था में था और उसके विकास की सम्भावना शेष न रही थी। इसलिए विद्वानों ने खड़ीबोली को गद्य और पद्य दोनों में अपनाकर इस भेद को दूर किया। 'वेलेजली' द्वारा सन् १८०० ई० में स्थापित 'फोर्ट विलियम कॉलेज' का आधुनिक

हिन्दी-साहित्य के विकास में मुख्य भाग रहा है। कॉलेज ने ब्रजभाषा के अध्ययन को भी प्रोत्साहित किया था, किन्तु उसके प्रिंसिपल डॉ० जान गिलक्राइस्ट की रुचि मुख्यत: हिन्दुस्तानी के उर्दू रूप में होने के कारण खड़ीबोली की विशेष उन्नति हुई।

१६ वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही उत्तरोत्तर जिस क्रम से हिन्दी-साहित्य में खड़ीबोली का प्राधान्य बढ़ता गया, उसी क्रम से ब्रजभाषा की निगति उभड़ती आई। उसकी अस्तोन्मुख गति २० वीं शताब्दी से स्पष्ट दिखाई देने लगी।

ब्रजभाषा की अवनति के कारण

इस प्रकार एक ओर जहाँ खड़ीबोली को तत्कालीन परिस्थितियाँ उठा और बल दे रही थीं, वहाँ दूसरी ओर इस काल में अपनी सहायक शक्तियों के विनष्ट हो जाने पर ब्रजभाषा पतनोन्मुख थी। ब्रजभाषा की सहायक शक्तियाँ थीं—कृष्णभक्ति, राजदरबार तथा संगीत। इन्हीं के सहयोग से मध्यकाल (भक्तिकाल व रीतिकाल) में उसकी उन्नति हुई थी। अंग्रेजी साम्राज्य के अन्तर्गत कवियों को आश्रय देने वाले राजागण स्वयं आश्रित थे। जिस कृष्णभक्ति ने ब्रजभाषा को बहुप्रान्तव्यापी बनाया था उसके शुद्ध प्रवाह को बहुत कुछ रीतिकालीन विलासिता एवं रूढ़िवादिता ने बहुत पहले ही रुद्ध कर दिया था। जब वैष्णवता का प्रचार रुका और राजदरबार भी उजड़ गए तब संगीत की भी अवनति होने लगी। अँग्रेजी राज्य के सुव्यवस्थित शासन में शान्ति की स्थापना तो हुई, पर देश सदैव आर्थिक संकटों में पड़ा रहा। भला ऐसी अवस्था में संगीत किसको अच्छा लगता ? अतएव संगीत के अवनति के साथ-साथ ब्रजभाषा भी लोगों के हृदय से दूर पड़ती गई। वैसे ब्रजभाषा और संगीत का मध्यकाल में अभिन्न साथ रहा है।

ब्रजभाषा के ह्रास के सम्बन्ध में यहाँ दो-एक बातें और विचारणीय हैं। खड़ीबोली में सहज काव्योचित गुण ब्रजभाषा से अधिक न होते हुए भी जो

उसने पद्य में ब्रजभाषा की जगह ली इसका मुख्य कारण शुद्ध साहित्यिक अथवा भाषागत न होकर बहुत कुछ समाजगत था। ब्रजभाषा का विकास और प्रसार देश में जातीय भाषा के रूप में कभी नहीं हुआ था। कृष्णभक्ति से लगी वह देश में चारो ओर दूर-दूर तक फैली थी। ब्रजप्रान्त के बाहर कवियों ने उसे काव्य में खूब अपनाया था। राज-दरबारों में भी वह आदृत हुई थी। संगीत की वह माध्यम बनी थी। पर, वह अपने विकास के उस मध्यान्ह काल में भी ब्रज-प्रान्त के बाहर बोलचाल की भाषा न बन पाई थी। इसके विपरीत खड़ीबोली हिंदी प्रदेश में जातीय भाषा के रूप में फैली। वह अपने क्षेत्र से बाहर लखनऊ, इलाहाबाद, बनारस, पटना आदि शहरों में सामाजिक व्यवहार की भाषा बनी। उसकी बढ़ती हुई इस व्यावहारिकता को देखकर प्रारम्भ में कुछ लोगों ने उसका मजाक 'रुपए-पैसे' वाली भाषा कहकर उड़ाया। उन लोगों ने यह भी कहा कि जिस प्रकार 'बाँस के चूसने में कोई रस नहीं मिलता' उसी प्रकार यह भाषा काव्य के लिए नीरस है। किन्तु ज्यों-ज्यों उसकी लोकप्रियता समाज के बीच बढ़ती गई, त्यों-त्यों वह सशक्त और काव्योपयुक्त भी बनती गई। इसीसे वह ब्रजभाषा को साहित्य के क्षेत्र से भी हटाने में समर्थ हुई। उसके सामाजिक जीवन का एक दूसरा पहलू और है। खड़ीबोली का गढ़ तत्कालीन लोक-रचनाओं, भगत, स्वांग, नौटंकी, ख्याल, लावनी, कजली, जोगीड़ा आदि गानों में और भी दृढ़ हो रहा था। इन गानों का प्रचार सर्व साधारण में था। साधारण जनता इनमें खूब रुचि लेती थी। ये गाने प्रायः खड़ीबोली के माध्यम से व्यक्त हो रहे थे। यहाँ तक कि इन गानों का प्रचार ब्रजप्रान्त के भीतर आगरा हाथरस जैसे स्थानों में हो रहा था। तात्पर्य यह कि ब्रजभाषा ब्रजप्रान्त के भीतर भी सर्वसाधारण के जीवन से हटती जा रही थी। इस लोक-काव्य ने काव्य-भाषा के लिए खड़ीबोली का मार्ग प्रशस्त किया। परिणाम यह हुआ कि काव्य में ब्रजभाषा को बनाए रखने के उसके समर्थकों द्वारा किए गए सम्पूर्ण प्रयत्न विफल हुए।

यदि ये सब प्रबल ऐतिहासिक और सामाजिक कारण न रहे होते और ब्रजभाषा-गद्य का पूर्ण विकास हो गया होता तो उसका साहित्यिक अधिकार

वर्तमान काल के इस नए दौर में न छिन जाता। भाषा और भाव की दृष्टि से उसमें जो आन्तरिक त्रुटियाँ आ गई थीं वे सब परिहार्य थीं। दूसरे, साहित्य में यदि पद्य का मान पूर्ववत् बना रहता और वह इस युग में हमारी सब आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकता तो सम्भवत: ब्रजभाषा साहित्य के क्षेत्र से कभी न हटती। समाज और साहित्य दोनों को इस समय गद्य की अनिवार्य आवश्यकता थी। समय का प्रभाव गद्य को महत्त्व दे रहा था। ब्रजभाषा इसीमें पिछड़ रही थी। इसीसे उसका इस युग में ह्रास हुआ।

१६ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतेन्दुबाबू ने ब्रजभाषा को एक बार पुन: उठाने का सक्रिय प्रयत्न किया, और उसके काव्य को नई प्रेरणा दी। उसके पुराने पड़े हुए शब्दों को हटाकर उन्होंने उनमें चलतापन और सफाई लाई। उन्होंने तथा उनके मण्डल के कवियों ने नवीन भावों और आदर्शों का समावेश कर उसको युगोपयोगी बनाने की भरसक कोशिश की। इसमें उन लोगों को बहुत-कुछ सफलता मिली। रीतिकाल के पिछले कवियों की मनमानी नीति से वह जो निर्जीव-सी और अप्रतिभ-सी हो गई थी उसमें पुनः ताजगी और स्वस्थता आई। पर, सच्ची बात यह थी कि वह जीवित रखी गई समस्यापूर्ति वाली प्रथा में। ब्रजभाषा में हाथ सधा होने से ये कविगण जितनी शीघ्र और अच्छी कविता ब्रजवाणी में कर लेते थे उतनी शीघ्र और उत्तम कविता खड़ी-बोली में न कर पाते थे। इसीलिये ब्रजभाषा के प्रति उनका विशेष मोह था। वरना, ये लोग ब्रजभाषा के गद्य के उत्कर्ष की ओर ध्यान क्यों न देते! वे कवि जो ब्रजभाषा के उत्कर्ष को चाह रहे थे वे भी अपनी गद्य-रचना खड़ीबोली में प्रस्तुत कर रहे थे। स्वयं भारतेन्दुबाबू ने ही ऐसा किया है। ऐसा दिखाई दे रहा था जैसे उन लोगों को ब्रजभाषा का गद्य रुचिकर ही न लग रहा हो। इसके विपरीत खड़ीबोली की सर्वप्रियता बढ़ रही थी। उसकी सर्वतोमुखी उन्नति होते देख कर जब कुछ प्रगतिशील विद्वानों ने काव्य-क्षेत्र में भी उसको स्थान देना चाहा तब ब्रजभाषा के समर्थ विद्वानों ने भाषा-माधुर्य और संस्कृति की दुहाई देकर उन लोगों की इस मनोवृत्ति का घोर विरोध किया। परिणाम स्वरूप

काव्यभाषा के प्रश्न को लेकर हिन्दी-साहित्य में एक विवाद ही खड़ा हो गया। संक्षेप में इस विवाद की चर्चा यहाँ आवश्यक है।

ब्रजभाषा और खड़ीबोली विवाद[1]

भारतेन्दु बाबू जिनसे कितनी ही बातों और बिचारों को बल मिला था और जिनसे कितनी ही विचारधाराएँ पुष्ट हुई थीं, खड़ीबोली की इस समस्या को लेकर आगे बढ़े और अपने ही हाथों उन्होंने खड़ीबोली में भी काव्य-रचना का सूत्रपात किया। किन्तु उनकी अप्रत्याशित मृत्यु (सन् १८८५ ई०) के उपरान्त उनकी इस विचारधारा ने एक आन्दोलन का रूप ले लिया।

भारतेन्दु-युग में खड़ीबोली-आन्दोलन के अगुआ थे बिहार-निवासी बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री। खड़ीबोली के पद्य के प्रसार हो जाने को ही वे अपने जीवन का प्रधान उद्देश्य समझते थे। इसी के लिए वे सदा व्यस्त रहे। वे सदैव अपने पास एक बही रखते थे और विद्वानों से मिलने पर खड़ीबोली में रचना करने के अनुमोदन स्वरूप उसमें उनके हस्ताक्षर ले लिया करते थे। उन्होंने 'खड़ीबोली का पद्य' नामक संग्रह दो भागों में, प्रथम भाग सन् १८८७ ई० में तथा दूसरा भाग सन् १८८९ ई० में, प्रकाशित कराया। इस पुस्तक को उन्होंने विद्वानों में निःशुल्क वितरित किया और उनका ध्यान इधर आकर्षित करते हुए खड़ीबोली को काव्य-भाषा का माध्यम स्वीकृत करने का नारा लगाया। बस फिर क्या था, इस बात को लेकर हिन्दी-साहित्य के रसिकों के बीच वाद-प्रतिवाद, आलोचना-प्रत्यालोचना होने लगी। प्रधान रूप से एक तरफ पं० श्रीधर पाठक, बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री स्वयं और 'हिन्दोस्थान' पत्र के सम्पादक खड़ीबोली का पक्ष लेकर तथा दूसरी ओर पं० राधाचरण गोस्वामी, पं० प्रतापनारायण मिश्र आदि ब्रजभाषा का पक्ष लेकर भिड़ गए। इन लोगों

---

१. विस्तृत अध्ययन के लिए देखिए लेखक की पुस्तक 'ब्रजभाषा बनाम खड़ी-बोली।'

ने अपने-अपने पक्ष के समर्थन में जिन-जिन विचारों को लेकर अपनी प्रौढ़ लेखनी चलाई उनकी चर्चा ब्रजभाषा के ह्रास को समझने में लिए महत्वपूर्ण है।

पं० राधाचरण गोस्वामी ने खड़ीबोली की कविता को 'पिशाची' और 'डाकिनी' बताया और कहा कि 'इस समय में हमारे परम आतुर आर्यसमाजी और मिशनरी आदिकों ने (खड़ीबोली में) कविता लिखने का प्रारम्भ करके··· काव्य की उलटे छुरे से खूब हजामत की है।'[1] ब्रजभाषा-पक्ष के विद्वानों का प्रधान रूप से यह विरोध था कि ब्रजभाषा अपनी सहज माधुरी के ही बल पर काव्यभाषा का स्थान चिरकाल से ग्रहण किए हुए है और जब तक उसमें माधुर्य गुण की यह विशेषता बनी हुई है तब तक अन्य भाषा में यह सामर्थ्य नहीं कि वह उसको अपदस्थ कर सके। कहीं-कहीं तो ब्रजभाषा के ये कवि इतने भाग्यवादी हो गए हैं कि उन्हें खड़ीबोली में रसपूर्ण रचना की कोई सम्भावना ही प्रतीत नहीं होती। पं० प्रतापनारायण मिश्र ने लिखा था कि 'जो लालित्य, जो माधुर्य, जो लावण्य कवियों की उस स्वतन्त्र भाषा में है········ उसका-सा अमृतमय चित्तचालक रस खड़ी और बैठी बोलियों में ला सके यह किसी के बाप की मजाल नहीं।'[2] खड़ीबोली को काव्योपयुक्त बनाने के लिए ब्रजभाषा के ये विद्वान उद्योगशील भी नहीं थे। इनका कहना था कि 'जब ईश्वर ने पकी पकाई खीर दे रखी है तो दलिया पकाने में क्यों समय खोवें'—पं० प्रतापनारायण मिश्र

बात इतनी ही नहीं थी जैसा कि ब्रजभाषा के समर्थक विद्वान कह रहे थे कि खड़ीबोली पद्य-रचना के सर्वथा अनुपयुक्त है, वरन् उनके मन में उस समय एक विशेष प्रकार का भय भी समाया हुआ था, और वह भय था उर्दू का। हिन्दी की ही हित कामना को लिए वे लोग यह सोच रहे थे कि खड़ीबोली के रूप में गद्य में उनका प्रवेश हो गया है। भारतेन्दु बाबू ने भी अत्यन्त दुःख से

---

१. कपिलदेवसिंह—ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली पृ० ८०

२. प्रतापपीयूष पृ० ९८

तत्कालीन हिन्दी की अवस्था को देखते हुए कहा था कि 'भाषा भई उर्दू जग की अब तो इन ग्रन्थन नीर डुबाइयो' । यदि कहीं पद्य-क्षेत्र में ब्रजभाषा ने अपना स्थान रिक्त किया और वहाँ भी वह प्रवेश पा गई तो हिन्दी सहज में ही उर्दू बन जाएगी । इस कारण से भी ब्रजभाषा-पक्ष के विद्वान् ब्रजभाषा का पल्ला नहीं छोड़ना चाहते थे । किन्तु खड़ीबोली के पक्ष समर्थक विद्वानों को इस प्रकार का भय नहीं था । वे इस सम्बन्ध में पूर्ण जागरूक थे । उनका कहना था कि 'जब हम हिन्दी की प्रतिष्ठा के परिरक्षण में सदा सचेत रहेंगे तो उर्दू की ताव क्या जो चौखट के भीतर पाँव रख सके' —पं० श्रीधर पाठक ।

खड़ीबोली-पक्ष के विद्वान बड़े उत्साही थे । वे खड़ीबोली पर किए जा रहे मिथ्या आरोपों की परवाह न कर बराबर उसके काव्योचित संस्कार में लगे रहे ।

ब्रजभाषा का निष्कासन भारतेन्दु युग में नहीं हुआ, परन्तु इस आन्दोलन से उसको इतना प्रबल धक्का लगा कि काव्य-क्षेत्र में उसका अब और अधिक काल तक बनी रहना सम्भव नहीं था ।

इस आन्दोलन को अब एक ऐसे योग्य संचालक की आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी जो उसको व्यवस्थित रूप देता और खड़ीबोली की शिथिलता को दूर कर उसको एक निश्चत मार्ग में विकासोन्मुख करता ।

इस समय तक आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी साहित्य के क्षेत्र में आ चुके थे और उनकी प्रौढ़ लेखनी का सम्मान भी विद्वानों में होने लगा था । खड़ी-बोली के आन्दोलन तथा सामयिक आवश्यकताओं से प्रभावित होकर उन्होंने खड़ीबोली में पद्य-रचना भी आरम्भ कर दी थी । वे कविता के तत्कालीन आवरण (ब्रजभाषा) के बदलने के पक्ष में थे । उनका यह मनोभाव उनकी निम्न रचना 'हे कविते !' से जो जून १९०१ ई० में 'सरस्वती' में प्रकाशित हुई थी, स्पष्ट हो जाता है—

'विडम्बना जो यह हो रही तव,
समूल ही भूल उसे दयामयि !
पधारने की अभिलाष होय जो,
न आव तौ भी कुछ काल लौं यहाँ ॥
अभी मिलैगा ब्रजमण्डलान्त का,
सुभुक्त-भाषामय वस्त्र एक ही।
शरीर-संगी करके उसे सदा,
विराग होगा तुझको अवश्य ही ॥
इसीलिए ही भवभूति-भाविते !
अभी यहाँ हे कविते ! न आ, न आ।
बता तुहीं कौन कुलीन कामिनी,
सदा चहैगी पट एक ही वही ?'

सन् १९०३ ई० में द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्यभार संभाला और इस प्रकार उन्हें खड़ीबोली को काव्य में प्रतिष्ठित करने का कार्य-क्षेत्र मिल गया। उनके प्रभाव तथा प्रोत्साहन से अनेक कवि खड़ीबोली में काव्य-रचना की ओर उन्मुख हुए। द्विवेदी जी तथा उनके दल के कवि विरोधियों के निन्दावाद की परवाह न करके खड़ीबोली में कविता करने में चुपचाप लगे रहे। अपना दृढ़ संकल्प कभी-कभी विरोधियों को वे इस भाँति सुना देते थे कि ब्रजबोली में कविता न करने या उस बोली के न जानने वाले चाहे 'लंगूर' बनाए जाएँ चाहे 'गीदड़' इससे बोलचाल (खड़ीबोली) की भाषा का प्रवाह बन्द न होगा।

जिस प्रकार भारतेन्दुयुग में खड़ीबोली की कविता के लिए निःसंकोच 'पिशाची' और 'डाकिनी' कहा गया था ठीक उसी प्रकार इस द्विवेदीयुग में भी वह 'चूरनवालों' की बानी', 'बिरहे', तथा 'पचड़ों' की भाषा बताई गई।

ब्रजभाषा-पक्ष के विद्वानों का यह कहना था कि निम्नकोटि की रचनाओं में ही अब तक खड़ीबोली का प्रयोग होता रहा है। उच्चकोटि की रचना के लिए वह कदापि योग्य नहीं है। इस पर खड़ीबोली के समर्थकों ने भी ब्रजभाषा की शृंगारी प्रवृत्ति की कटु आलोचना की और कहा कि उसमें तो 'नूपुरों का रव ही अधिक सुन पड़ता है, और तरह की ध्वनियाँ कम सुनाई पड़ती हैं'—मैथिलीशरणगुप्त। उन्होंने यह भी कहा कि ब्रज-काव्य से शिक्षोन्नति और देशोन्नति की आशा करना व्यर्थ है।

भारतेन्दुकाल में जब खड़ीबोली को काव्यभाषा का माध्यम बनाने का प्रयत्न किया गया था तब उसकी अपर्याप्त अभिव्यंजना शक्ति को देखकर ब्रज-भाषा के समर्थक विद्वानों को उस समय यह विश्वास नहीं हुआ था कि खड़ी-बोली में भी सफल काव्य-रचना हो सकेगी। उनका यह विश्वास द्विवेदीकाल के प्रथम दशक तक वैसा ही बना रहा। किन्तु द्विवेदीकाल के कवियों ने ब्रजभाषा के समर्थकों के सारे आक्षेपों को मिथ्या प्रमाणित कर दिया। खड़ीबोली, द्विवेदी युग समाप्त होते-होते, काव्यभाषा के माध्यम के रूप में पूर्णतः स्वीकृत कर ली गई। आचार्य द्विवेदी ने अप्रैल १९१४ ई० के 'सरस्वती' अङ्क में लिखा था कि 'अब आप किसी अखबार या सामाजिक पुस्तक को उठा लीजिए प्रायः सर्वत्र ही आपको बोलचाल की भाषा में कविता मिलेगी।'

खड़ीबोली को काव्यभाषा के आसन पर इतने अल्प काल में प्रतिष्ठित करने का श्रेय इस युग (द्विवेदीयुग) के कवियों को है। हम ज्यों-ज्यों इस युग से दूर हटते जाएँगे त्यों-त्यों भविष्य में इस युग के महत्व को समझेंगे कि किस परिश्रम और लगन से इन कवियों ने खड़ीबोली में केवल १८-२० वर्षों के ही भीतर वह सफाई, सुघराई तथा अर्थ-गम्भीरता ला दी जो ब्रजभाषा में शता-ब्दियों मँजने-घिसने के बाद आई थी। द्विवेदीयुग की समाप्ति के ३०-३२ वर्ष पूर्व जब खड़ीबोली-आन्दोलन प्रारम्भ हुआ था तब 'हिन्दोस्थान' पत्र के सम्पा-दक ने ३ अप्रैल १८८८ ई० के सम्पादकीय टिप्पणी में खड़ीबोली के विरोधियों को सावधान करते हुए लिखा था कि 'जैसा हिन्दी (खड़ीबोली-गद्य) का गुण-

गौरव आपको थोड़े दिनों से ज्ञात हुआ है, उसी तरह उसकी कविता का गौरव भी धीरे-धीरे समझ में आवेगा।' उनकी यह भविष्यवाणी द्विवेदीयुग में फलीभूत हुई।

आचार्य द्विवेदी तथा उस युग के अन्यान्य कवियों के सतत् प्रयत्न द्वारा कविता के क्षेत्र में खड़ीबोली गृहीत हो गई थी। इस प्रकार गद्य और पद्य के माध्यम की भाषा एक बना दी गई थी। इस ब्रजभाषा और खड़ीबोली के विवाद को अब वहीं उस युग के साथ समाप्त हो जाना चाहिए था, क्योंकि इस विषय पर काफी विचार-विमर्श हो चुका था और दोनों पक्ष वालों ने अपने-अपने पक्ष के समर्थन में कहने योग्य लगभग सभी बातें कह डाली थीं। विचारों की पुनरुक्ति से, जैसा कि वर्तमान युग के इस तृतीय उत्थान (छायावादी युग) में देखा जाता है साहित्य को अब विशेष लाभ नहीं था। उल्टे इससे विद्वानों के बीच आपस में कटुता की ही वृद्धि हुई और व्यक्तिगत आक्षेपों में लोग सौजन्य, सहृदयता तथा साहित्यिक मर्यादा को भूल गए। इसीसे इस विवाद की असामयिकता की ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हुए पं० किशोरीदास वाजपेयी ने लिखा कि 'आजकल कुछ महानुभाव फिर भाषा का प्रश्न उठाकर साहित्य जगत में संग्राम छेड़ने की चेष्टा कर रहे हैं। हमें आप लोगों का काम न केवल व्यर्थ किन्तु साहित्य-क्षेत्र के लिए हानिकर भी दीखता है।[1] खड़ीबोली के लक्ष्य की प्राप्ति हो चुकी थी। अब उसके विद्वानों के लिए चुपचाप उसको परिष्कृत और प्रौढ़ बनाने में लगे रहना ही श्रेयस्कर था, किन्तु ब्रजभाषा और खड़ीबोली सम्बन्धी यह विवाद तब तक चलता रहा जब तक छायावादी-युग की नई धारा (छायावाद) की कविता पर चल रही आलोचना-प्रत्यालोचना समाप्त न हो गई।

इस काल (छायावादी युग) में खड़ीबोली का विरोध पिछले युगों—भारतेन्दु और द्विवेदीयुग की भाँति यह कहकर नहीं किया गया कि वह काव्योपयुक्त

---

१. माधुरी, वर्ष ८, खण्ड १, सं० ६,

नहीं है अथवा उसमें सफल काव्य-रचना नहीं हो सकती। इस समय उसका विरोध प्रधानतः उसके वाह्य और आन्तरिक रूपों—छन्द, अलङ्कार, रस, भाव आदि को लेकर हुआ। उसके कवि और कविता के लिए कहा गया—

> 'कविता इधर से उधर लतियाई जा रही है।·······चट से कविता लिखी और पट से पत्रों में छपा दी। चारों ओर से धन्य-धन्य की ध्वनि गूँज उठी और कविराज भी फूलकर कुप्पा हो गए।'[1]
>
> —वियोगी हरि

> 'बरसात के दिनों में किसी सरोवर में मंडूक-मंडली जैसा कोलाहल मचाती है, ठीक वैसी ही दशा इस समय हिन्दी-कविता में हो रही है। जिसे न व्याकरण का बोध है, न छन्दशास्त्र का ज्ञान है, न रस और रीति से परिचय है·······वह भी कविशिरोमणि, कविरत्न, कविसम्राट, कविवर आदि उपाधियों से लदा हुआ अपनी टूटी-फूटी तुकबन्दी के बेसुरे आलाप से आसमान सिर पर उठाए हुए है। सैकड़ों और हजारों कवि सम्राट एक साथ बोल रहे हैं, कोई किसी की सुनता नहीं।'[2]
>
> —त्रि० महोदय

यहाँ विशेष ध्यान देने योग्य जो बात है वह यह है कि इस काल में यह विरोध एकमात्र काव्यभाषा खड़ीबोली के प्रति न रह गया था। असल में यह विरोध अधिकांशतः छायावादी कविता को लेकर हुआ। काव्यभाषा का विरोध खड़ीबोली के रूप में चल ही रहा था कि छायावादी कवियों की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति ने कविता के भाव और रूप में भी आमूल परिवर्तन उपस्थित किया। ब्रजभाषा के प्रशंसक विद्वानों को यह परिवर्तन और भी क्रान्तिकारी दिखाई दिया। नवीन कवियों की इस प्रवृत्ति को वे उच्छृङ्खलता समझने लगे। उनका

---

१. **ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली**, पृष्ठ १७३

२. **वही** पृष्ठ १७४

कहना था कि यदि इस प्रकार की कविता की बाढ़ शीघ्र न रोकी गई तो इससे हिन्दी साहित्य का महान अहित होगा।

यदि यह छायावादी कविता उस समय खड़ीबोली में न होकर किसी अन्य भाषा में हुई होती तो उस भाषा का विरोध भी उतना ही तीव्र होता जितना कि खड़ीबोली का हुआ। इसे तो एक संयोग ही कहना चाहिए कि जिस काव्य-भाषा (खड़ीबोली) के लिए विरोध पहले से चल रहा था उसी भाषा में व्यक्त अब इस नवीन काव्य-शैली (छायावाद) का विरोध भी सम्मिलित हो गया। इस छायावादी युग में केवल भाव के क्षेत्र में ही परिवर्तन हुआ होता तो इन अपरिवर्तनवादियों को यह बात उतनी न खटकती।

खड़ीबोली के पक्ष समर्थक विद्वानों ने भी ब्रजभाषा की कविता तथा उसके कवियों की कुत्सा करने में कोई कोरकसर नहीं छोड़ी। जैसे—

> 'जो भाषा मूर्खता और तुच्छता को छिपाकर विद्वान बनने में सहायता करे, वह अवश्य प्रशंसनीय है। जिस भाषा के द्वारा सहज ही जनता ठगी जा सके और जिसके द्वारा सहज ही कवि होने का सर्टिफिकेट हासिल किया जा सके, उसके लिए जरूर ही जी-जान से कोशिश करनी चाहिए। एक बात और। हिन्दी में कविता करने के लिए किंचित मौलिकता की आवश्यकता होती है। परन्तु ब्रजभाषा में तो इसकी कोई जरूरत ही नहीं। वहाँ तो पुराने कवियों के अपरिमित भाव मौजूद हैं उनको वहाँ से लेकर उसमें अपना पैवंद साँटकर या उनका रूप विकृत कर जनता के सामने उपस्थित कर दो, और महाकवि की उपाधि हासिल कर लो।'[1]
>
> —बाबू गोवर्द्धनलाल

'हिन्दू समाज में व्यभिचार फैलाने, बेकारी, कायरता और आलस्य

१. ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली पृष्ठ १७६

बढ़ाने की मिथ्यावादिता से जनता के हृदय का तेज घटाने के अप-
राधी (ब्रजभाषा के) कविगण हैं, ऐसे कवियों की कविताओं का
विष हिन्दू-जाति के नस-नस में घुस गया है।

—पं० रामनरेश त्रिपाठी

'ब्रजभाषा की अधिकांश कविता इसलिए सोने के कटोरे में हलाहल
है कि वह आत्मा का नाश और पुरुषत्व का ह्रास करती है। स्त्री
का जितना घोर अपमान उसमें है, उतना हिन्दी के अन्य साहित्य में
मुश्किल से मिलेगा।'[२]

—पं० वेंकटेशनारायण तिवारी

'इस काल (मध्यकाल) के कवियों को गुंडेपन और शोहदेपन की
हरकतों के अतिरिक्त और कुछ बड़ी मुश्किल से सूझता है।'[3]

—मार्कण्डे वाजपेयी

'इन साहित्य के मालियों में से जिनकी विलास वाटिका में भी आप
प्रवेश करें........सबकी बावड़ियों में कुत्सित-प्रेम का फुहारा शत-
शत रसधारों में फूट रहा है........कुंजों में उद्दाम यौवन की दुर्गन्धि
आ रही है। इन तीन फुट के नख-शिख के संसार से बाहर ये कवि
पुंगव नहीं जा सके।'[४]

—पन्त

'बात खलेगी ब्रजभाषा के हिमायतियों को, परन्तु सच्ची बात यह कि

---

१. ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली पृ० १६५

२. वही पृ० १६५,

३. वही पृ० १८१,

४. पल्लव—पन्त,

ब्रजभाषा में आज जो कुछ भी है, उसका अधिकांश है कवितावद्ध कोकशास्त्र और महाघृणित रूप में लिखा हुआ ।'[1]

—जगन्नाथप्रसाद मिश्र सम्पादक 'विश्वमित्र'

ब्रजभाषा तथा उसके प्राचीन कवियों को इस प्रकार कलंकित करना अवश्य बड़े दु:ख की बात है । ब्रजभाषा के अर्वाचीन कवियों की तो हम उल्टी-सीधी आलोचना कर भी सकते हैं, पर प्राचीन कवियों की निन्दा करना और उनकी कविता को 'कवितावद्ध कोकशास्त्र' बताना अवश्य असह्य है। साहित्य और जातीय जीवन के लिए भी प्राचीनता का अपमान वांछित नहीं होता, वरन् उसकी रक्षा और उसका गौरव ही किसी साहित्य और जाति को दीर्घकाल तक जीवित रख सकता है । अन्य देशों में भी प्राचीन साहित्य का अर्वाचीन साहित्य से कहीं अधिक आदर होता है । यह सत्य है कि आज के कार्य-कलाप का समावेश ब्रज-भाषा में नहीं हो सकता । उसको काव्य-भाषा के पद पर बनाए रखने का प्रयास समय की गति के विपरीत है, पर हिन्दी-साहित्य की सुदृढ़ नींव उसी पर है। इसलिए वह हमारी आराध्या है । उसके कवि अवज्ञा के नहीं अपितु पूजा के पात्र हैं । यदि प्राचीन ब्रजभाषा की कविता में शृंगारिकता का आधिक्य हो गया है तो ब्रजभाषा और उसके कवि इसके लिये किस सीमा तक दोषी हैं ? वियोगी हरि के शब्दों में 'दोष तो है उस बेफिक्री के जमाने की' जिसमें इस प्रकार की कविता को प्रोत्साहन मिला 'आज जैसे डंडे पड़ते तो हाय-हाय की कविता लिखने में वे भी दक्षता दिखलाते ।'[2]

ब्रजभाषा और खड़ीबोली के पक्ष-समर्थकों में इस प्रकार विवाद चलता रहा । खड़ीबोली वर्तमानकाल में सरस और प्रौढ़ बनी । उसके लिए जो यह प्रवाद था कि उसकी खड़खड़ाहट में ब्रजभाषा के सामान माधुर्य और कान्तता नहीं आ सकती वह दूर हो गया । कविता के क्षेत्र से ब्रजभाषा का निष्कासन निश्चित

---

१. ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली, पृ० १८२

२. सम्मेलन पत्रिका, १९७८ वि०

हो गया। ब्रजभाषा का विरोध होते रहने पर भी वह भारतेन्दु युग तक काव्य में बनी रही। परन्तु द्विवेदी युग का पूर्वार्द्ध समाप्त होते-होते खड़ीबोली काव्य-भाषा के माध्यम के लिए पूर्णरूप से स्वीकृत कर ली गई। इस प्रकार ब्रजभाषा का साहित्यिक पतन हुआ। जिस भाषा को अनेकों कवियों ने अपनाया, समय-समय पर जिसकी प्रशंसा की, और जो भाषामणि[1] समझी गई उसकी २०वीं शती में इस प्रकार की अस्तोन्मुखी गति को देखकर पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' ने बड़े विषाद से लिखा था—

---

१. (क) 'पौरुष कविता त्रिबिध हैं, कवि सब कहत बखानि।
प्रथम देवबानी बहुरि, प्राकृत भाषा जानि॥
देस-भेद लें होति सो, भाषा बहुत प्रकार।
बरनत हैं तिन सबनि में, ग्वारियरी रससार॥
ब्रजभाषा भावत सकल, सुरबानी सम तूल।
ताहि बखानत सकल कवि, जानि महा रसमूल॥'

—लालचन्द्रिका की भूमिका लेखक लल्लूजीलाल

(ख) 'बरनन को करि सकत भला तिहि भाषा कोटी।
मचलि-मचलि जामें माँगी हरि माँखन रोटी॥
जाको सौ रस अवगाहत जाही में आवै।
कैसो हू गुनवान थाह जाकी नहि पावै॥'

(ग) 'देसकाल अनुसार भाव निज व्यक्त करन में।
मंजु मनोहर भाषा या सम कोउ न जग में॥
ईश्वर मानव-प्रेम दोउ इक संग सीखावति।
उज्ज्वल-स्यामलधार जुगुल यों जोरि मिलावति॥'

—पं० सत्यनारायण कविरत्न

'बंग और महाराष्ट्र सुभग गुजरात देस में ।
अटक कटक पर्यन्त कहिय भारत असेस में ॥
एक राष्ट्रभाषा की त्रुटि जो पूरत आई ।
इतने दिन सों करति रही तुम्हरी सिवकाई ॥
सत समरथ कवियनु की कविता प्रमान जामें ।
निरखहु नेंन उघारि कहाँ लौं सबनु गिनामें ॥
इक दिन जो माधुर्य कान्तिमय सुखद सुहाई ।
मंजु मनोरम मूरति जाकी जग जिय भाई ॥
देखत तुम निहचिंत जात ताके अब प्राना ।
अभागिनी सोकारत कहहु को तासु समाना ॥'

आधुनिक काल में ब्रजभाषा की रचनाएँ

काव्य-क्षेत्र से अलग हो जाने पर भी ब्रजभाषा में रचनाओं का प्रवाह बन्द नहीं हुआ है । कुछ रचनाएं उत्तम कोटि की हुई हैं । पं० श्रीधर पाठक (सं० १६१६ वि०) ने 'गोल्डस्मिथ' के 'डेजर्टेज विलेज' का ब्रजभाषा में 'ऊजड़-गाँव' के नाम से सुन्दर अनुवाद किया है । ब्रजभाषा में लिखा हुआ पाठक जी का प्रकृति वर्णन बेजोड़ है । पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' (सं० १६२२ वि०) का 'रसकलश' तथा बाबू जगन्नाथदास 'रत्नाकर' (सं० १६२३ वि०) का 'उद्धवशतक' ब्रजकाव्य की अनूठी रचनाएं हैं । सेठ कन्हैयालाल पोद्दार (सं० १६२८ वि०) का 'भर्तृहरि-शतक' और 'काव्य-कल्पद्रुम' ब्रजभाषा के सुन्दर काव्य ग्रन्थ हैं । पं० सत्यनारायण 'कविरत्न' (सं० १६४१ वि०) जैसी ब्रजवाणी की मधुर काकली तो उनके उपरान्त आज दिन सुनी ही नहीं गई । उनकी रचना 'भ्रमरदूत' पर नवीनता की छाप है । 'हृदय तरंग' उनकी कविताओं का संग्रह है । आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल (सं० १६४१ वि०) का 'बुद्धचरित', श्री वियोगी हरि (सं० १६५३ वि०) की 'वीर सतसई' तथा हरदयालुसिंह का

'दैत्यवंश', 'रावण महाकाव्य' आदि ब्रजभाषा की श्रेष्ठ तथा मौलिक रचनाएँ हैं। डा० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' (स० १६५५ वि०) की गणना ब्रजभाषा के कुशल कवियों में है। पं० रूपनारायण पांडे (सं० १६६० वि०) ब्रजभाषा के एक सुकवि हैं। श्री नन्ददुलारे भार्गव (सं० १६५२ वि०) की 'दुलारे दोहावली' देवपुरस्कार से पुरस्कृत है। श्री रामनाथ ज्योतिषी को भी अपनी रचना 'रामचन्द्रोदय' पर देवपुरस्कार प्राप्त हो चुका है। श्री रामचन्द्र शुक्ल 'सरस' (सं० १६६० वि०) 'अभिमन्युवध' नामक खण्डकाव्य सरस ब्रजभाषा में लिखा है। स्वर्गीय चौधरी लक्ष्मीनारायणसिंह 'ईश' ने 'लंकादहन' नामक एक सुन्दर अवधी मिश्रित ब्रज-काव्य की रचना की है। श्री अनूपशर्मा (सं० १६५७ वि०) के 'फेरि-मिलिबो' पर देवपुरस्कार प्राप्त हो चुका है। इनके अन्य ग्रन्थों में 'कुणाल' और 'सिद्धार्थ चरित' प्रमुख हैं। श्री रामकृष्णदास की कविताओं का संग्रह 'ब्रजरज', बाबू अम्बिकाप्रसाद वर्मा की 'दिव्य दोहावली' तथा पं० उमाशंकर वाजपेयी 'उमेश' की 'ब्रजभारती' आदि भी उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त और भी बहुत से ज्ञात-अज्ञात ब्रजभाषा के कवियों की रचनाएँ हैं जो यह प्रमाणित करती हैं कि काव्य-सुधा-निर्झरिणी अब भी, इस खड़ीबोली के वैभवपूर्ण युग में, प्रवाहित हो रही है, और इसमें सन्देह नहीं कि वह आगे भी इसी प्रकार प्रवाहित होती रहेगी। वास्तव में ब्रजभाषा की माधुरी, कोमलता सरसता तथा पदलालित्य ऐसा ही है जो बरबस कवियों को अपनी ओर आकर्षित करता रहता है। उसके अनुरागी भक्त आज भी यह प्रार्थना करते सुने जाते हैं—

'सजन सरस घनश्याम अब दीजै रसुबरसाय।
जासौं ब्रजभाषा लता हरी-भरी लहराय॥'

निष्कर्ष

फिर भी 'दिनन के हेर-फेर तें' उसी ब्रजभाषा को हमारे सम्पूर्ण पतन का हेतु बताने में कतिपय विद्वान् रंचमात्र भी नहीं झिझकते। यह अवश्य हमारे दुर्भाग्य

की बात है। जिस भाषा और साहित्य ने हमारी संस्कृति, धर्म, जाति और समाज की ऐसे दुर्दिन में रक्षा की जब कि देश यवनों के दुराचारों से आक्रान्त था उसी के भाल पर इस प्रकार का कलंक लगाना कहाँ तक समीचीन कहा जा सकता है! उसमें हमारी मध्यकालीन विचारधारा और संस्कृति धरोहर के रूप में निहित है। हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि 'कृष्णकाव्य' ब्रजभाषा की ही सबसे बडी देन है। कला की दृष्टि से भी ब्रजभाषा की कविताएँ उच्चकोटि की हैं। विभिन्न रसों का परिपाक जैसा इस भाषा में हुआ है वैसा संस्कृत साहित्य को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ है। ब्रजभाषा का साहित्य बहिष्कार की वस्तु नहीं, अपितु उसके संरक्षण और संवर्धन का उत्तरदायित्व आज हम पर विशेष है। आज दिन भी मध्यकाल की स्थापत्यकला, वास्तुकला, चित्रकला आदि को समझने के लिए ब्रजभाषा-साहित्य की जानकारी अनिवार्य है। अत: उसके प्राचीन साहित्य का प्रकाशन, प्रचार, अध्ययन, अध्यापन आदि तथा नवीन साहित्य सृजन जिसमें खड़ीबोली से प्रतिद्वन्द्विता का भाव न हो अवश्य होना चाहिए। ब्रजभाषा और खड़ीबोली में पार्थक्य की भावना हिन्दी के लिए अहितकर है। ब्रजभाषा या खड़ीबोली की उन्नति हिन्दी की उन्नति माननी चाहिए। एक युग था जब ब्रजभाषा के पक्ष समर्थक विद्वान कहा करते थे—

'चाहो रस चाखा तो सीख लेहु भाखा।
जो न जानै भाखा ताहि शाखामृग जानिये॥'

इस कथन में कुछ भी अब सार नहीं है। वह समय अब बहुत पीछे हट गया है जब खड़ीबोली में सिवा खड़खड़ाहट के कुछ नहीं था। हिन्दी-साहित्य ब्रज, अवधी और और खड़ीबोली तीनों को लेकर बना है। उनमें भी ब्रजभाषा का उस पर अधिक अधिकार है।

सबसे अधिक खेद जनक वस्तु यह है कि ब्रजभाषा अपने जनपद में भी आज प्रमुख भाषा नहीं है। वहाँ के पढ़े-लिखे लोग व्यवहार में खड़ीबोली को

ही ग्रहण करते हैं। कोई भी समाचार पत्र वहाँ इस भाषा के माध्यम से प्रकाशित नहीं होता। शिक्षा का भी माध्यम वह वहाँ नहीं है। जबकि उसका अतीत अत्यन्त मूल्यवान और लोक-साहित्य समृद्ध है। ब्रज-क्षेत्र की जनता का कर्त्तव्य है कि वे उसके भविष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए उसे अपने जीवन की व्यावहारिक भाषा बनाएँ और उसको उचित मान दें। जब वे ऐसा करेंगे तभी दूसरों का भी हृदय उसको ग्रहण करने के लिए प्रतिस्पन्दित होगा। ब्रज-साहित्य मंडल, मथुरा का कार्य इस दिशा में सराहनीय है। यह मंडल एक 'ब्रजभारती' नाम की पत्रिका भी निकाल रहा है। इससे ब्रजभाषा की सेवा होने की पूर्ण आशा है। ब्रजभाषा के उन्नायकों और उपासकों का दूसरा कर्त्तव्य है कि वे आज की नई परिस्थिति में ब्रजभाषा की कविता का विषय बदल दें। यह न समझना चाहिए कि ब्रजभाषा में केवल कोमल भावनाओं का ही निर्वाह समुचित रीति से हो सकता है। असल में आवश्यकता यह है कि वह वर्तमान परिस्थित में हमारी समस्त नवीन भावनाओं की अभिव्यक्ति करे। प्राकृत और अपभ्रंश के कवियों ने संस्कृत-साहित्य की उपेक्षा नहीं कर दी थी, और न उर्दू के कवियों ने फारसी-साहित्य को भुला दिया है। इसलिए ब्रजभाषा के रस-सिंधु को हमें भी न भूल जाना चाहिए। राष्ट्रकवि बाबू मैथिलीशरण गुप्त के ये शब्द हमें याद रखने हैं—

'ब्रजभाषे, हौं भूल सकत कबहू नहिं तोकों,
तेरी महिमा और मधुरिमा मोहत मोकों।

× × ×

माखन-मिसरी पाय पली है बढ़भागिन तू !
रागभरी है सहज सुरीली सुर रागिन तू !
तब तो ताकों सकल प्रदेशनि ने अपनायो।
को है ऐसो जाइ गान तेरो नहिं भायो ?
तेरो पद-विन्यास विदित जनु रतन जड़तु है,

गली साँकरी माँय काँकरी पायँ गड़तु है।
तैंने केते मधुर सलोने ग्रंथ लिखाये।
प्रेम-भक्ति के हाव-भाव सब हमैं दिखाये।'

हमें ब्रजभाषा को केवल एक जनपद की भाषा के रूप में नहीं देखना है। वह हमारी संस्कृति की भाषा है। हमारी वर्तमान हिन्दी (खड़ीबोली) की आद्या-शक्ति है। अत: उसके साहित्य की रक्षा एवं उसका प्रचार हिन्दी-भाषा को समृद्ध एवं पुष्ट करने की दृष्टि से नितान्त आवश्यक हो जाता है। ब्रजभाषा का अपार और अथाह साहित्य-धन हिन्दी-साहित्य का सदैव सुदृढ़तम स्तम्भ रहेगा; और उसके काव्य-सुधा-रस-प्रेमी अपने को उस पर उत्सर्ग करते रहेंगे—

'जा बानी की कलित कुंज में कविता करति बिहार।
जावै "हरि" वा ब्रजबानी पै बलि-बलि सौ-सौ बार॥'

—वियोगी हरि

अवशिष्ट

हमारा भाषा-सम्बन्धी इतिहास बड़ा ही विचित्र और मनोरंजक है। हिन्दी प्रदेश की प्रमुख आधुनिक भाषाएं तीन हैं—(१) अवधी, (२) ब्रजभाषा, और (३) खड़ीबोली। इनमें से अवधी इस क्षेत्र के पूर्वी भाग की, तथा ब्रजभाषा और खड़ीबोली दोनों पश्चिमी भाग की भाषाएं हैं। डेढ़-दो सौ वर्ष पूर्व, अवधी और ब्रजभाषा का विशेष प्रचार था। हिन्दी-साहित्य के निर्माण का काम भी इन्हीं दोनों भाषाओं में किया गया। खड़ीबोली में साहित्य-निर्माण का काम प्राचीन समय में नाममात्र हुआ था। प्रधान रूप से वह बोलचाल में व्यवहृत होती थी। इसीसे ब्रजभाषा और खड़ीबोली में १९ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध के पूर्व तक आपस में साहित्यिक प्रतिस्पर्द्धा प्रायः नहीं थी। १६ वीं और १७ वीं शताब्दियों में अवधी ने थोड़ा शिर उठाया अवश्य था, किन्तु ब्रजभाषा से वह अधिक काल तक प्रतिद्वन्द्विता न कर सकी। इसका परिणाम यह हुआ था कि ब्रजभाषा एक लम्बी अवधि तक हिन्दी की साहित्यिक भाषा के वांछनीय पद

पर आरूढ़ रही। १६ वीं शताब्दी की बदलती हुई सामयिक परिस्थिति में जब भाषा-सम्बन्धी उत्थान-पतन हुआ, तब खड़ीबोली ने २० वीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में ब्रजभाषा के साहित्यिक स्वत्वों पर पूर्ण अधिकार कर लिया। इस समय खड़ीबोली हिन्दी-क्षेत्र की केवल साहित्यिक भाषा ही नहीं, अपितु वह राष्ट्रभाषा के गौरवपूर्ण पद पर आसीन है। जिस समय खड़ीबोली हिन्दी-साहित्य में शीर्ष स्थान ग्रहण कर रही थी, उसी समय ब्रजभाषा और खड़ीबोली के पक्ष-समर्थक विद्वानों में काव्यभाषा के माध्यम को लेकर एक विवाद चला था। इसकी चर्चा संक्षेप में इसी पुस्तक के पाँचवें अध्याय में की गई है। इस विवाद से सम्बन्धित दो खोजपूर्ण पुस्तकें भी प्रकाशित हो गई हैं। इनमें एक है इसी लेखक की 'ब्रजभाषा बनाम खड़ीबोली', और दूसरी है डॉ० शितिकंठ-मिश्र की 'खड़ीबोली और उसका आन्दोलन'।

भाषा-परिवर्तन की परम्परा साहित्य में बहुत प्राचीन है। यह सहस्रों वर्ष से चलती आ रही है, और आगे भी चलती रहेगी। चूँकि भाषा का सम्बन्ध मनुष्य-समाज से होता है और मनुष्य-समाज सदैव गतिशील है, इसलिए भाषा में परिवर्तन भी अवश्यम्भावी है। भाषा परिवर्तन के कई कारण हैं। इनमें मुख्य दो हैं। एक के अन्तर्गत, नवीन भाषा पुरानी भाषा का स्थान ग्रहण करती है। जब किसी भाषा का जन-साधारण से सम्पर्क नाममात्र का रह जाता है, तब उसका स्थान बोलचाल की भाषा धीरे-धीरे ले लेती है; किन्तु यह परिवर्तन भाषा में अविदित रूप से होता रहता है। यह किसी विद्वत्परिषद अथवा साहित्य-सम्मेलन की इच्छा पर निर्भर नहीं होता। जब कोई भाषा साहित्य में स्थान ग्रहण करती है तो साहित्यिक मर्यादा कायम रखने के लिए विद्वान भाषा के रूप, अर्थ, ध्वनि आदि में स्थिरता लाना चाहते हैं। इसके लिए वे उसे भाषा-सम्बन्धी अनेक नियमों से आवद्ध कर देते हैं। साहित्य के लिए इस प्रकार की नियमवद्धता अपेक्षित अवश्य है, पर कालान्तर में यह उसके स्वच्छन्द विकास में रुकावट अवश्य डालती है। साहित्य में उसका नैसर्गिक विकास रुक जाता है। इसके विपरीत जन-समुदाय को भाषा को शुद्ध तथा पवित्र रखने की कोई चिन्ता नहीं होती। वे भाव-प्रदर्शन को ही अपना मुख्य उद्देश्य मानकर

काम करते हैं, और भाषा प्राकृतिक नियमों के अनुसार परिवर्तित या विकसित होती रहती है। यही कारण है कि विद्वानों की भाषा सर्वसाधारण की प्रचलित बोली से दूर जा पड़ती है, और वह साहित्य में केवल विद्वानों की सम्पत्ति रह जाती है। भाषा यदि केवल विद्वानों की सम्पत्ति होती तो सम्भवतः उसमें परिवर्तन न होता; किन्तु उस पर जन-साधारण का भी अधिकार है। बल्कि यह कहना अधिक युक्तियुक्त होगा कि भाषा पर सर्वसाधारण का ही अधिकार रहा है और रहेगा। इसीसे विद्वानों का कथन है कि 'भाषा जनता का अनुसरण करती है और विद्वान् भाषा का।' अतः सर्वसाधारण की प्रचलित भाषा में परिवर्तन होने पर साहित्यिक भाषा में परिवर्त्तन अवश्य होगा; क्योंकि विद्वान् साहित्य का सृजन सबके लिए करता है। जब विद्वानों को सर्वसाधारण तक कोई सन्देश पहुँचाना होता है या वे उनकी सहायता के मुखापेक्षी होते हैं तब उन्हें हारकर उनकी 'अपरिमार्जित' और 'गँवारू' बोली का ही प्रयोग करना पड़ता है। उनके हाथों में पड़कर यह बोलचाल की भाषा पुनः साहित्यिक रूप लेने लगती है, और बोलचाल की भाषा अपने ढंग पर चली चलती है। यह क्रम बराबर चलता रहता है। इस क्रम में एक भाषा के अनन्तर दूसरी भाषा का साहित्य में आविर्भाव होता है। इसीसे वैदिक भाषा से लेकर अर्वाचीन हिन्दी-भाषा तक हमारी साहित्यिक भाषा ने अनेक आवरण बदले हैं। भाषा-परिवर्तन के इस नियम के भीतर एक विशेष बात यह देखी जाती है कि विद्वान् नवीन भाषा को बोलचाल एवं गद्य में ग्रहण तो कर लेते हैं, किन्तु इस परिवर्तन का शीघ्र स्वागत वे पद्य में नहीं करते। उनका कहना है कि पद्य में कोई भाषा अधिक मँजने-घिसने के बाद ही इस योग्य होती है कि उसमें उत्तम कविता की जा सके। संस्कृत भाषा बौद्धयुग के प्रारम्भ में ही जन-साधारण से दूर पड़ गई थी तो भी उसका प्राधान्य साहित्य में बहुत बाद तक बना रहा। इसी प्रकार आधुनिक हिन्दी की प्रादेशिक भाषाओं को अपभ्रंश ने अधिक काल तक दबाए रखा और साहित्य में उनका प्रवेश जबकि बहुत पहले हो जाना चाहिए था न हो सका। किन्तु भाषा-सम्बन्धी इस अस्वाभाविक प्रक्रिया का अनुभव विद्वान् स्वयं करते हैं और अन्ततोगत्वा उन्हें

सर्वसाधारण की प्रचलित भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। संस्कृत के कितने ही श्रेष्ठ ग्रन्थ विद्वानों ने १८ वीं शताब्दी तक लिखे पर १६ वीं शताब्दी में सर्वसाधारण की लोकप्रिय प्रादेशिक भाषा में लिखे गए 'सूर' के गेय पद अथवा तुलसी के 'रामचरितमानस' आदि के समान प्रिय न हो सके। विद्यापति ठाकुर ने अपभ्रंश में रचनाएं कीं, पर लोकप्रिय काव्य के लिए उनको मैथिली में रचनाएं करनी पड़ीं। अतः विद्वानों को सर्वसाधारण द्वारा किए हुए भाषा के परिवर्तनों का अनुसरण करना पड़ता है। साहित्य में भाषा परिवर्तन का यही प्रधान कारण है।

ब्रजभाषा का परिवर्तन उक्त नियम के अन्तर्गत नहीं हुआ है, जबकि कुछ विद्वानों ने इस परिवर्तन को इसी नियम के अनुसार समझने की भूल की है। इन लोगों ने खड़ीबोली की उत्पत्ति ब्रजभाषा से बताई और कहा कि ब्रजभाषा और खड़ीबोली में माता और पुत्री का सम्बन्ध है।[1] विद्वानों से इस प्रकार की भूल कदाचित् इसलिए हुई मालूम होती है कि खड़ीबोली १६ वीं शताब्दी में दूर-दूर तक प्रचार पाने के पूर्व स्वयं ब्रजक्षेत्र में ही विशेष महत्ता प्राप्त कर रही थी। उसका व्यवहार वहाँ लोकगीतों, ख्याल, भगत, नौटंकी आदि में भी खूब हो रहा था। इसी से कुछ लोगों ने यह समझा कि नवीन बोलचाल की भाषा (खड़ीबोली) पुरानी साहित्यिक भाषा (ब्रजभाषा) का स्थान ग्रहण कर रही है; अर्थात् ब्रजभाषा से खड़ीबोली का आविर्भाव हो रहा है। वस्तुतः ऐसी बात थी नहीं।

भाषा-परिवर्तन का दूसरा प्रधान कारण है बाह्य परिस्थितियों का किसी भाषा पर प्रभाव। देखा जाता है कि सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक एवं

---

१. मौलाना मुहम्मद हुसेन आजाद ने अपने 'आवेहयात' में 'उर्दू' (खड़ीबोली) को ब्रजभाषा की बेटी लिखा है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने अपनी पुस्तक 'हिन्दीभाषा' में वर्तमान हिन्दी-भाषा को ब्रजभाषा से उत्पन्न माना है। गोस्वामी गौरचरण ने अपने लेख 'हिन्दी और ब्रजभाषा' में ब्रज-भाषा और खड़ीबोली को माता और पुत्री का सम्बन्ध बताया है।

सामाजिक उत्थान-पतन का प्रभाव केवल किसी जाति की स्थिति पर ही नहीं, अपितु उसकी भाषा पर भी पड़ता है। मुसलमानी राजत्व-काल में मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव से हिन्दी-साहित्य में एक नवीन शैली (उर्दू) का जन्म हुआ जो आज अपना कुल व जाति हिन्दी से बलात् पृथक् मानकर 'उर्दू भाषा' के नाम से विख्यात हो रही है। यह इसी संस्कृति का प्रभाव है कि अरबी-फारसी से आई हुइ 'क़', 'ख़', 'ग़', 'ज़', 'फ़' आदि ध्वनियों का सन्निवेश हिंदी में हो गया है। यही बात धर्म के सम्बन्ध में भी पाई जाती है। धार्मिक भावनाएँ साहित्य के उपादान तो हैं ही, पर किसी नवीन धर्म के उत्थान-पतन के साथ किसी नवीन भाषा का उत्थान-पतन भी देखा जाता है। 'पाली' का उत्थान-पतन बौद्धधर्म के साथ हुआ। धार्मिक भावना के कारण ही भारतवर्ष के ईसाई अंग्रेजी बोलना अधिक पसन्द करते हैं। ब्रजभाषा के उत्थानपतन में बहुत-कुछ हाथ कृष्णभक्ति का है। भाषा-परिवर्तन ऐतिहासिक और राजनीतिक घटनाओं पर भी आश्रित है। किसी देश के इतिहास में जब कभी महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन हुआ है, तब उसका प्रभाव उस देश की तत्कालीन भाषा पर भी पड़ा है। प्रायः यह देखा जाता है कि केन्द्र (राजधानी) की जो भाषा होती है वही शासक-वर्ग की भाषा बन जाती है और उसका प्रचार प्रधानतः नगरों और शिक्षितवर्ग में बढ़ने लगता है। धीरे-धीरे वही भाषा देश की टकसाली भाषा बन जाती है और साहित्य में भी प्रधानता प्राप्त कर लेती है। कभी फ्रांस में दक्षिणी फ्रांस की भाषा की प्रधानता थी, पर आज पेरिस की फ्रेंच ही प्रामाणिक मानी जाती है। भारतवर्ष में मुसलमानों की राजधानी दिल्ली होने से वहीं की भाषा (खड़ीबोली) का महत्व बढ़ा। जिस प्रकार ऐतिहासिक घटनाएँ भाषा परिवर्तन में सहायक हैं उसी प्रकार सामाजिक एवं सुधारवादी आन्दोलन भी कभी-कभी समुदाय की लोक-प्रिय भाषा को आगे बढ़ने का सुअवसर देते हैं। आर्यसमाज काँग्रेस आदि समाजवादी तथा राष्ट्रवादी संस्थाओं ने खड़ीबोली के प्रचार व प्रसार में पूर्ण सहायता की है।

भाषा का जो यह परिवर्तन हिन्दी-साहित्य में हुआ, अथवा खड़ीबोली ब्रजभाषा को जो अपदस्थ कर सकी, उसमें १९ वीं शताब्दी की राजनीतिक एवं

सामाजिक परिस्थितियाँ हां कारण थीं। ब्रजभाषा और खड़ीबोली के द्वन्द्व में भाग लेने वाले कुछ विद्वानों ने भाषा के इस परिवर्तन को पूर्णतया भाषातत्वों के अन्तर्गत समझा था। उनका कहना था कि ब्रजभाषा खड़ीबोली से अधिक मधुर सरस तथा सशक्त है और जब तक उसमें ये विशेषताएं बनी हुई हैं, तब तक साहित्य में उसका स्थान कर्णकटु खड़ीबोली नहीं ले सकती। किन्तु भाषा परिवर्तन की यह समस्या न तो भाषा सम्बन्धी थी और न भाषा सम्बन्धी तत्त्वों के आधार पर सुलझी। मूलत: जैसा ऊपर कहा गया है यह समस्या सामाजिक और राजनीतिक थी और उसका हल भी उन्हीं के आधार पर हुआ। सचमुच भाषा सम्बन्धी यह परिवर्तन हिन्दी-साहित्य में शान्तिमय क्रान्ति का एक प्रत्यक्ष उदाहरण है।